इग्नू
जन–जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD - 22
कबीर का विशेष अध्ययन

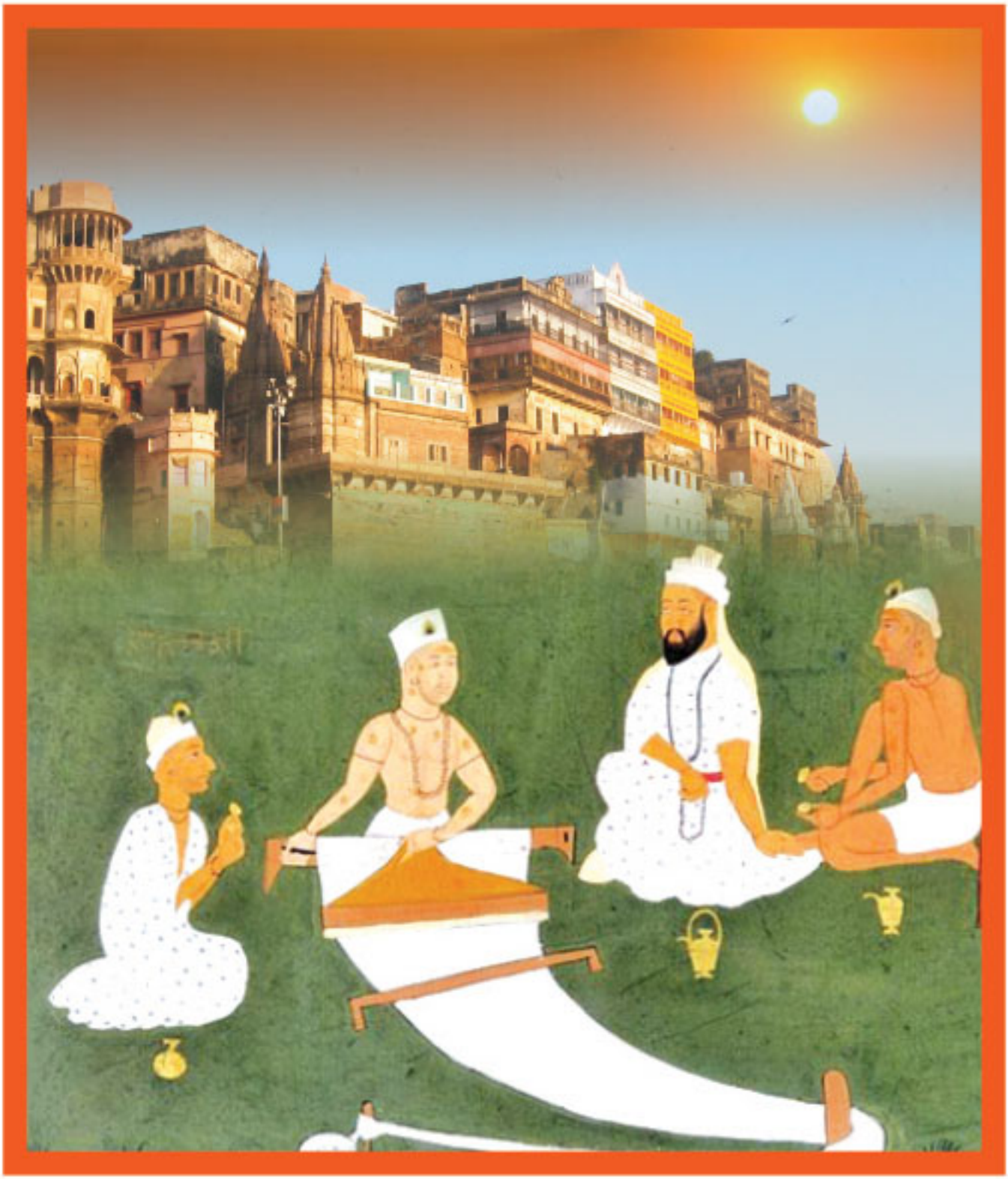

कबीर का जीवन और युग 1

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD-22
कबीर का विशेष अध्ययन

खंड

1

कबीर का जीवन और युग

इकाई 1
कबीर का जीवन और उनका साहित्य 5

इकाई 2
कबीर का युग 16

इकाई 3
निर्गुण भक्ति परम्परा और कबीर 28

इकाई 4
गोरखनाथ, कबीर और तुलसीदास 49

इकाई 5
गुरुग्रंथ साहिब और कबीर 63

विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. कमला प्रसाद

प्रो. चन्द्रकला पांडेय (सेवानिवृत्त)
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन (सेवानिवृत्त)
कोचीन विज्ञान एवं तकनीकी
विश्वविद्यालय, कोचीन

प्रो. नूरजहाँ बेगम (सेवानिवृत्त)
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद

संकाय सदस्य
प्रो. सत्यकाम (निदेशक)
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
(पाठ्यक्रम संयोजक)
प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संकल्पना
प्रो. रामबक्ष
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या	पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. दयाशंकर बल्लभ विद्या नगर गुजरात	1	प्रो. सत्यकाम प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
प्रो. लल्लन राय	2, 4	**पाठ्यक्रम संयोजक एवं खंड संपादक** प्रो. स्मिता चतुर्वेदी मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. कैलाश देवी सिंह लखनऊ	3	
डॉ. ओम प्रकाश तिवारी नई दिल्ली	5	**सहयोग :** डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय परामर्शदाता, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग :
श्री नवल कुमार, मानविकी विद्यापीठ,
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

आवरण :
सुश्री अरविंदर चावला
एडीए ग्राफिक्स, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

जुलाई, 2019

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019

ISBN-978-93-89200-30-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सत्यकाम, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित

पाठ्यक्रम परिचय

एम.ए. हिंदी के विद्यार्थियों के लिए एम.एच.डी.-22, 'कबीर का विशेष अध्ययन' का यह पाठ्यक्रम प्रस्तुत है। कबीर मध्ययुगीन हिंदी भक्तिकाव्य धारा के महत्वपूर्ण कवि हैं। भक्ति कालीन निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक कबीर की कविताओं ने हिंदी प्रवेश के भक्ति आंदोलन को बहुत गहराई से प्रभावित किया था। कबीर प्रखर प्रतिभा के धनी थे। वे पढ़े–लिखे नहीं थे इसीलिए उन्होंने 'कागद की लेखी' की जगह 'आँखिन देखी' को अधिक महत्व दिया और परम्परा से तत्व ग्रहण कर चिंतन के नए आयाम विकसित किए। कबीर जनसाधारण के सबसे लोकप्रिय कवियों में से हैं यही कारण है कि लोकमानस में उनकी स्मृति साधारण जनता की किंवदंतियों और जनश्रुतियों में सुरक्षित मिलती है। कबीर सच्चे चिंतक और भक्त थे और बहुंसख्यक जनता का हित ही उनकी कविता का लक्ष्य था। आध्यात्मिक क्षेत्र में कबीर ने अद्वैतवाद को अपनाया था और सामाजिक क्षेत्र में समानता और बंधुत्व के भाव को केंद्र में रखकर सामाजिक अद्वैत को स्वीकृति दी थी। कबीर काव्य और उनके जीवन की ऐसी अनगिनत विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है ताकि इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के उपरांत आप कबीर के जीवन और काव्य से भलीभाँति परिचित हो सकें।

इस पाठ्यक्रम में कुल 4 खंड हैं जिन्हें 18 इकाइयों में विभाजित किया गया है। पाठ्यक्रम का खंड-1 'कबीर का जीवन और युग' है। कबीर के जीवन तथा उनकी युगीन पृष्ठभूमि से सम्बंधित इस खंड में 5 इकाइयाँ है जिनमें कबीर के जीवन, उनके साहित्य, उनकी युगीन परिस्थितियों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है। इस प्रक्रिया में कबीर के जीवन से सम्बद्ध जनश्रुतियों आदि का उल्लेख करते हुए उनके जन्म और मृत्यु से सम्बंधित तिथियों पर विचार किया गया है। इसके साथ ही खंड में भक्तिकालीन कवि तुलसी से कबीर की तुलना की गई है और गुरुग्रंथ साहिब में संकलित गैर सिख संत कवियों की जानकारी देते हुए विशेष रूप से कबीर के काव्य की चर्चा की गई है।

पाठ्यक्रम का खंड-2 'कबीर का चिंतन' है। इस खंड में कबीर की कविताओं में निहित उनके दार्शनिक विचारों तथा कबीर की सामाजिक–धार्मिक मान्यताओं पर विचार किया गया है। कबीर ने अपने समय की धार्मिक रूढ़िवादिता का पुरजोर विरोध किया। इस खंड में उनके इस प्रतिरोध पर विस्तार से चर्चा की गई है।

पाठ्यक्रम का खंड-3 'कबीर की कला' है। इस खंड में कबीर की भाषा, कबीर के साहित्य में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दावली उनके काव्य में निहित छंद एवं अलंकार तथा उनकी कविता में निहित व्यंग्य की विविध छवियों पर विस्तार से विचार किया गया है। कबीर की सधुक्कड़ी भाषा उनके अभिप्रेत को गहराई से अभिव्यक्ति देती है। खंड में उनकी भाषा के वैशिष्ट्य और अनायास प्रयुक्त अलंकारों के संदर्भ में भी विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

पाठ्यक्रम का खंड-4 'कबीर का मूल्याँकन और प्रासंगिकता' है। खंड में कुल 5 इकाइयाँ है जिनमें आज के संदर्भ में कबीर को जानने-परखने का प्रयास किया गया है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले कबीर के साहित्य की इस दृष्टि से पड़ताल की गई है कि दलित साहित्य से कबीर की कविता का जुड़ाव कहाँ–कहाँ और कैसे-कैसे है। इकाई में दलित चिंतन की दृष्टि से कबीर के साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है। हिंदी आलोचना में कबीर से सम्बंधित इतिहासकारों और आलोचकों के विचारों पर चर्चा की गई है। कबीर की कविताओं में मानव मुक्ति के विविध संदर्भों और दृष्टियों पर विचार किया गया है। इसी खंड में हमने कबीर की कुछ चुनी हुई साखियों और पदों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। विश्लेषण की प्रक्रिया में हमने यह ध्यान रखा है कि आप कबीर की कविता के मूल भाव को ग्रहण कर सकें। **परिशिष्ट** के अंतर्गत खंड 4 में कबीर के चुने हुए दोहे और पद दिए गए हैं इन दोहों और पदों से ही व्याख्या संबंधी प्रश्न पूछे जाएँगे। आप इनका गंभीरतापूर्वक अध्ययन-विश्लेषण करने का प्रयास करें। इस प्रकार यह पाठ्यक्रम सम्पन्न होता है। पाठ्यक्रम से सम्बद्ध विषयों पर अधिक जानकारी और गहन अध्ययन के लिए आप खंडों में दी गई उपयोगी पुस्तकों का अध्ययन अवश्य करें।

शुभकामनाओं के साथ!

खंड 1 का परिचय

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम एम.एच.डी.-22, का 'कबीर का जीवन और युग' शीर्षक पहला खंड आपके समक्ष अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। भक्तिकाव्य की सुदीर्घ परम्परा में कबीर उन महत्वपूर्ण कवियों में से हैं जो आज भी प्रासंगिक हैं। उन्होंने परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया और चिंतन के नए आयाम भी विकसित किए। उन्होंने 'कागद की लेखी' की अपेक्षा 'आँखिन देखी' को अधिक महत्व दिया। भक्तिकाल में कबीर का महत्व पोथी ज्ञान और लेखन के कारण नहीं अपितु 'मुख बचन' या 'शब्द साधन' के कारण है।

कबीर के जीवन तथा युग से सम्बंधित प्रस्तुत खंड में पाँच इकाइयाँ हैं। इस खंड में कबीर की युगीन पृष्ठभूमि, उनके जीवन तथा साहित्य का विस्तार से विवेचन तो किया ही गया है, साथ ही उस युग के अन्य प्रमुख भक्त कवियों पर भी विविध दृष्टियों तथा कबीर के संदर्भ में विचार किया गया है।

इस खंड की प्रथम इकाई 'कबीर का जीवन और उनका साहित्य' है। इस इकाई में कबीर के जीवन और साहित्य से जुड़े विविध आयामों पर विचार किया गया है।

खंड की दूसरी इकाई 'कबीर का युग' है। इस इकाई में कबीर युगीन विविध परिस्थितियों की जानकारी दी गई है। साथ ही कबीर के व्यक्तित्व निर्माण में युग जीवन की क्या भूमिका थी, इसे भी स्पष्ट किया गया है।

खंड की तीसरी इकाई 'निर्गुण भक्ति परम्परा और कबीर' है। इस इकाई के अंतर्गत निर्गुण मत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की गई है। साथ ही, निर्गुण भक्ति परम्परा के ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं परंतु बारीकी से देखने पर उनके यहाँ उभयपक्षीय भक्ति दिखाई देती है अतः कबीर की निर्गुण-सगुण समन्वय साधना के विविध बिंदुओं पर भी विचार किया गया है। इसी क्रम में कबीर की निर्गुण भक्ति के मूल उपादानों प्रेमभक्ति, सहज साधना, रहस्य आदि की भी चर्चा की गई है।

खंड की चौथी इकाई 'गोरखनाथ, कबीर और तुलसीदास' है। इस इकाई में गोरखनाथ की साधना पद्धति पर विचार करते हुए कबीर पर गोरखनाथ के प्रभाव को विश्लेषित किया गया है। इसके साथ ही, तुलसी तथा कबीर की सामाजिक अवधारणाओं की तुलना भी की गई है।

खंड की पाँचवीं और अंतिम इकाई 'गुरुग्रंथ साहिब और कबीर' है। इस इकाई में गुरुग्रंथ साहिब का परिचय दिया गया है तथा गुरुग्रंथ साहिब में संकलित गैर सिख संत कवियों की जानकारी दी गई है। इस प्रक्रिया में कबीर के अध्ययन में आदि ग्रंथ के महत्व का प्रतिपादन भी किया गया है।

इस पाठ्यक्रम में विशिष्ट शब्दावलियों का प्रयोग हुआ है। इकाई संख्या 11 में आप इन सभी पारिभाषिक शब्दावलियों का भी अध्ययन करेंगे। खंड के अंत में खंड से सम्बंधित कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची भी दी गई है। खंड में विवेचित विषयों के संदर्भ में गहन अध्ययन के लिए इन पुस्तकों को आप किसी भी पुस्तकालय से प्राप्त कर सकते हैं।

इकाई 1 कबीर का जीवन और उनका साहित्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 कबीर का जीवन

1.3 कबीर का साहित्य

1.4 सारांश

1.5 अभ्यास प्रश्न

1.0 उद्देश्य

'कबीर का विशेष अध्ययन' पाठ्यक्रम के खंड-1 (कबीर का जीवन और युग) की यह पहली इकाई है। इसे पढ़कर आप:

- कबीर के निजी जीवन के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- कबीर साहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेंगे; और
- उनके जीवन और रचनाओं का विवेचन विश्लेषण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मध्ययुगीन हिंदी भक्त कवियों में पहले महत्वपूर्ण भक्त कवि कबीर माने जाते हैं। हम यहाँ उनके जीवन और साहित्य से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे। कबीर-साहित्य के विद्यार्थी के सामने पहला सवाल यह उठ खड़ा होता है कि कबीर का प्रामाणिक जीवनवृत्त क्या है? उनके साहित्य और उनके जीवन का अंतःसम्बंध क्या है? इसका कारण यह है कि कबीर का जीवन वृत्तांत किंवदंतियों, अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से घिरा हुआ है। दूसरा प्रश्न कबीर के साहित्यिक कर्म को लेकर खड़ा होता है। कबीर के नाम से अनेक रचनाएँ मिलती हैं जिनके बारे में कबीर की मूल रचना होने का दावा किया जाता है, पर यह स्वीकृत तथ्य है कि कबीर साखी और पद कहते या गाते थे, उन्हें स्वयं लिखते और संग्रहीत नहीं करते थे। ऐसी हालत में प्रश्न उठता है कि मध्ययुगीन कबीर की वाणी और आधुनिक पाठालोचन अनुसंधान की प्रक्रिया के बीच कैसे वैज्ञानिक संगति बैठायी जाए? प्रक्षिप्त अंशों से कबीर की मूल रचना को अलग करना, कबीर की मूलभाषा की खोज करना भी कम कठिन नहीं है। कबीर के अध्येता के ज्ञान को सर्वांगीण बनाने के लिए उनको कबीर के जीवन और साहित्य से परिचित होना ही पड़ेगा। इस इकाई में इन्हीं समस्याओं पर विचार किया गया है।

1.2 कबीर का जीवन

कबीर के जीवनवृत्त के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका मूल कारण यह भी है कि कबीर ने स्वयं अपने जीवन के संदर्भ में यत्र-तत्र जो सूचना दी है, वह अपर्याप्त है। जो भक्त कवि उनके समकालीन और थोड़े ही परवर्ती माने जाते हैं,

उनकी कबीर के बारे में उक्तियाँ प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ मात्र हैं। कबीर पंथ के श्रद्धालुओं और भक्तों ने उनके बारे में जो कहा है वह किंवदंतियों, अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से भरपूर है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी के सामने पहला सवाल कबीर के प्रामाणिक जीवनवृत्त का उठता है। ऐसा लगता है कि कबीर ने सामान्य परिवार में साधारण जीवन बिताकर अपने जीते जी असाधारण ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनके जीवनवृत्त को खोजने और सँजोने की कोशिश उनकी मृत्यु के काफी बाद की गई है। इनमें पंथ और पंथेतर दोनों तरह के कबीर-श्रद्धालु शामिल हैं। ऐसी हालत में उनके जीवन के बारे में निश्चित रूप से कहने के बजाय सम्भावित रूप में ही कुछ कहा जा सकता है।

1. प्रशस्तियाँ

संत रैदास, पीपा, धन्ना, सेन आदि कबीर के समसामयिक माने जाते हैं। ये सभी कबीर की प्रसिद्धि से न केवल परिचित हैं, बल्कि उनकी भक्ति से प्रभावित भी हैं। कबीर के बारे में इनकी इक्का-दुक्का प्रशस्तिपरक उक्तियाँ जरूर मिलती हैं। जैसे –

नामदेव कबीरु त्रिलोचनु सधना सैनु तरै।
कहि रविदास सुनहुँ रे संतहु हरि जीउ ते सभै सरै।
(गुरु ग्रंथ साहब से रैदास की उक्ति)

जाके ईद बकरीद नित गऊ बध करै, मानियै सेख सहीद पीरा।
बाप वैसी करी पूत ऐसी धरी, नांव नव खंड परिसिध कबीरा।

(रज्जबदास की 'सर्वंगी' से पीपा की उक्ति, उद्धृत – डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)

दादू दयाल कबीर के थोड़े ही परवर्ती हैं और उनका समय भी निश्चित है – सन 1544-1603 । उन्होंने कबीर को अनेक स्थानों पर बड़ी श्रद्धा से याद किया है –

हरि रस लागे नाम दे, पीपा अरु रैदास।
पीवत कबीरा नाथ क्या, अजहूँ प्रेम पियास।

'कासी तजि मगहर गया, कबीर भरोसे राम', 'दादू रहणि कबीर की, कठिन विषम यहु चाल', 'साचा सबद कबीर का मीठा लागे मोहि' आदि उक्तियाँ दादू पर कबीर के जीवन और साधना सम्बंधी प्रभाव को सूचित करती हैं। इनके अलावा रज्जब, सुंदरदास, मलूकदास, धर्मदास, हरिदास निरंजनी, बिहारवाले दरिया साहब, गरीबदास आदि परवर्ती संतों ने कबीर को बड़े आदर के साथ याद किया है और अपना आदर्श भी माना है।

सगुण भक्ति परम्परा से सम्बद्ध नाभादास ने कबीर को बड़े आदर से याद किया है। 'भक्तमाल' में अपने एक छप्पय में उन्होंने कबीर की साधना और कविकर्म के बारे में कहा है–

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग–जग्य व्रत–दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी–सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन 'सबहि' के हित की भाखी।
आरूढ़ दशा हवै जगत पर मुखदेखी नाहिंन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।

2. जन्मतिथि और जन्मस्थान

कबीर-पंथियों में कबीर की जन्मतिथि को लेकर यह दोहा सबसे अधिक प्रचलित है :

चौदह सौ पचपन साल गये, चंद्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रकट भए।

घन गरजै दामिनि दमकै, बूदें बरसें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले, तहँ कबीर भानु परकास भए।

इस दोहे के अनुसार, कबीर का जन्म संवत 1455 (सन् 1398), जेठ पूर्णिमा सोमवार के दिन हुआ था। कबीर चरित्र बोध, कबीर कसौटी (बाबू लहनासिंह) में यह पद उद्धृत है। लेकिन किसने लिखा है, इसके बारे में इसका कोई उल्लेख नहीं है। बाबू श्यामसुंदर दास इसे धर्मदास की रचना मानते हैं, लेकिन प्रमाण उनके पास भी नहीं है। कबीर साहित्य के आधुनिक जानकारों के बीच इसमें प्रयुक्त 'चंद्रवार', 'बरसायत', 'प्रकट भये' को लेकर काफी विवाद है। बाबू श्यामसुंदर दास ने 'साल गये' का अर्थ 1455 के बाद अर्थात् 1456 मानते हुए जेठ पूर्णिमा के दिन 'सोमवार' (चंद्रवार) की बात स्वीकारी है, किंतु डॉ. माता प्रसाद का कहना है कि जेठ पूर्णिमा के दिन 'मंगलवार' पड़ता है। उन्होंने कहा कि 'यदि बरसायत का अर्थ बट सावित्री लिया जाए तो वह पूर्णिमा नहीं, अमावस्या को पड़ता है। इसलिए इसका अर्थ 'श्रेष्ठ मुहूर्त' लेना चाहिए।' डॉ. रामचंद्र तिवारी ने अंतिम दो पंक्तियों को कबीर के किसी श्रद्धालु द्वारा (उन्हें 'आलौकिक व्यक्तित्व' प्रदान करने के लिए) जोड़ी गईं बताई है। डॉ. पारसनाथ तिवारी 'चंद्रवार' को दिन के बदले स्थान वाचक मानते हैं। पं. परशुराम चतुर्वेदी और डॉ. केदारनाथ द्विवेदी 'तीस बरसु कछु न कियो' कबीर की उक्ति के आधार पर संवत 1425 (संवत 1455-30) निश्चित करते हैं। कुल मिलाकर कबीर की जन्मतिथि अनिश्चित है। बिना किसी प्रमाण के कबीर की सबसे ज्यादा स्वीकृत जन्मतिथि संवत 1455 ही है।

कबीर का जन्म किस स्थान पर हुआ था, इसे लेकर भी विद्वानों में काफी मतभेद है। कबीर के जन्मस्थान के रूप में 'काशी' और 'मगहर' विशेष रूप से मान्य हैं। कबीर पंथ में सबसे मान्य स्थान 'काशी' रहा है। इसके बारे में सबसे ज्यादा कबीर की एक साखी और एक पद का हवाला दिया जाता है जिसमें काशी का सीधे उल्लेख है –

काशी में हम प्रकट भए, रामानंद चेताए।
तू बाभन मैं काशी का जुलाहा, बूझहुँ मोर गियाना।

जनश्रुतियाँ भी काशी के पक्ष में हैं। अनंतदास, रेवरेंड अहमदशाह, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, श्यामसुंदर दास आदि काशी को ही कबीर का जन्म स्थान मानते हैं।

कई विद्वान ऐसे हैं जो काशी के बदले 'मगहर' को कबीर का जन्म स्थान मानते हैं। सबसे पहले डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपने शोध प्रबंध 'हिंदी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' में 'मगहर' की ओर विद्वानों का ध्यान खींचा। उन्होंने 'श्री गुरु ग्रंथ साहब' के इस पद के आधार पर 'मगहर' का समर्थन किया –

तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपन बुझाई।
पहिले दरसन मगहर पाइओ, फुनि कासी बसे आई।

3. परिवार : माता-पिता

यदि अंतःसाक्ष्य की दृष्टि से विचार करें तो कबीर ने कहीं भी अपने माता और पिता का नाम नहीं लिया है। उन्होंने अपने पदों और साखियों में राम को अपनी माँ (हरिजननी मैं बालिक तेरा), बाप (कहै कबीर बाप राम राया, हुरमति राखहु मेरी) पति, दोस्त, राजा आदि कहा है। लेकिन यह तो भक्तों का भगवान के प्रति सम्बंध प्रकट करने का एक प्रचलित मुहावरा है। कबीर ग्रंथावली (श्यामसुंदर दास) में एक पद ऐसा है जिसमें कबीर ने 'माई' का उल्लेख किया है :

मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।
यह बारिक कैसे जीवहि खुदाई।

यह पद कबीर के पारिवारिक परिवेश की ओर संकेत करता है, लेकिन कबीर की माँ के नाम आदि के बारे में कुछ नहीं कहता।

जनश्रुतियाँ कबीर को एक अनाम विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने की बात कहती है, जिसे रामानंद ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था। डॉ. रामचंद्र तिवारी इस जनश्रुति के मूल में कबीर को 'हिंदू कुल से जोड़ने' और 'रामानंद का अलौकिकत्व' सिद्ध करने की आकांक्षा मानते हैं। उनकी दृष्टि में इस प्रकार का प्रवाद कबीर के जन्म के काफी बाद का है। इसी से जुड़ी हुई एक दूसरी जनश्रुति भी है। वह यह है कि विधवा ब्राह्मणी लोकोपवाद के डर से बच्चे को लहरतारा तालाब के किनारे फेंक आई और वहाँ से गुजरने वाले नीरू-नीमा दम्पति ने उसे उठा लिया, पाला-पोसा और बड़ा किया। रज्जब की 'सर्वांगी' से पीपा की एक उक्ति, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उद्धृत करते हुए डॉ. बड़थ्वाल ने कहा कि 'कबीर' नीरू-नीमा के सिर्फ पालित-पोषित पुत्र नहीं, बल्कि उन्हीं के असली पुत्र हैं। हालाँकि पंडित रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि उन्हें, जनश्रुति का अनुकरण करते हुए, नीरू-नीमा का पोष्य पुत्र ही मानते हैं।

4. नाम, कुल-जाति और पेशा

नाम का सम्बंध धर्म और संस्कृति से होता है। मध्यकाल में सामान्यतः हिंदू और मुसलमानों के नाम अपने-अपने धर्म और संस्कृति के अनुरूप रखे जाते थे और आज भी कमोवेश यही परम्परा है। 'कबीर' नाम मुस्लिम धर्म और संस्कृति से सम्बद्ध है। कबीर के नामकरण के बारे में भी एक जनश्रुति है। नीरू-नीमा लहरतारा के पास मिले बच्चे का नामकरण करने के लिए मौलवी के पास गए और उसने कुरान खोलकर उसका नाम 'कबीर' रख दिया। कबीर के नाम को लेकर विवाद नहीं है।

कबीर के कुल और जाति को लेकर विद्वान एक मत नहीं जान पड़ते हैं। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल कबीर को जुलाहा कुलोत्पन्न मानते हैं, जबकि द्विवेदी जी उन्हें सिर्फ उसमें पालित-पोषित मानते हैं।

5. विवाह, पत्नी और संतान

कबीरपंथी कबीर को जीवनभर अविवाहित, लेकिन त्यागी गृहस्थ संत मानते हैं। जनश्रुतियाँ कबीर पंथियों के उलट कहती हैं। वे कबीर के विवाह का न केवल समर्थन करती हैं, बल्कि उनके बच्चे-बच्ची होने की बात भी करती हैं। जनश्रुति के अनुसार कबीर की पत्नी का नाम 'लोई' था , जो एक वैरागी की पालिता-पोषिता पुत्री थी। वह उन्हें गंगा स्नान के समय लोई में लपेटी हुई गंगा में बहती हुई मिली थी। वैरागी ने लोई में लपेटी होने के कारण उसका नाम 'लोई' रख दिया था। मरते समय बाबा के बताए उपाय से लोई को कबीर मिले । वह कबीर से प्रभावित हुई और उन्हीं के साथ रहने लगी। एक जनश्रुति लोई को कबीर की पत्नी बताती है, तो दूसरी उनकी शिष्या।

डॉ. मुंशीराम शर्मा और डॉ. रामकुमार वर्मा प्रचलित जनश्रुति में एक पक्ष और जोड़ते हुए कबीर की दो पत्नियाँ होने की बात कहते हैं। पहली-लोई, दूसरी-धनिया। जहाँ तक 'लोई' के कबीर की पत्नी होने का प्रश्न है; डॉ. पारसनाथ तिवारी, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, आदि का कबीर के अंतर्साक्ष्य के आधार पर एक मत यह है कि यह स्त्री का नाम नहीं है, बल्कि लोगों के लिए सम्बोधनवाचक संज्ञा शब्द है।

जहाँ तक कबीर की दूसरी पत्नी का प्रश्न है, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'गुरु ग्रंथ साहब' के दो पदों के आधार पर अपनी यह स्थापना दी है। पद इस प्रकार है –

मेरी बहुरीआ को **धनीआ** नाउ। ले राखियो रामजनिया नाउ।

दूसरे पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

पहिली करूपि कुजाति कुलखनी साहुरै पेई ए बुरी।
अब की सरूपि सुजानि सुलखनी सहजे उदरि धरी।
भली सरी मेरी पहिली बरी। जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी।

यह कबीर का आत्मकथ्य है–

सहजै सहजै सब गये, सुत बित कांमणि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा राम।

यह कबीर का आत्मकथ्य है। पर इसे यथार्थ माना जाय या मात्र भक्ति का मुहावरा। इसे यदि यथार्थ रूप में ग्रहण किया जाय तो कबीर की पत्नी और पुत्र का समर्थन होता है। जनश्रुति तो कबीर के एक पुत्र 'कमाल' और एक पुत्री 'कमाली' की बात कहती है। गुरु ग्रंथ साहब में 'कमाल' के विषय में एक 'सलोग' भी मिलता है :

बूड़ा बंस कबीर का उपजियो पुतु कमालु।
हरि का सिमुरनु छांड़ि कै घरि लै आया मालु।

6. शिक्षा-दीक्षा, और शिष्य परम्परा

कबीर के जीवन के ये संदर्भ भी स्पष्ट नहीं हैं। सामान्यतः मान्यता यह है कि कबीर अनपढ़ थे। वे बहुश्रुत थे और उन्होंने सत्संगति से ज्ञानार्जन किया।

शिक्षा और ज्ञानार्जन की दो परम्पराएँ रही हैं। एक-श्रुतिशिक्षाज्ञान की परम्परा और दूसरी पुस्तकीय शिक्षा-ज्ञान की परम्परा। कबीर के अंतर्साक्ष्य से स्पष्ट है कि वे पुस्तकीय शिक्षा और विद्या को व्यर्थ मानते थे। 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय', 'तू कहता कागद की लेखी हौं कहता आँखिन की देखी' उनके प्रसिद्ध कथन इसके प्रमाण हैं। कबीर पंथ में कबीर का महत्व पोथी ज्ञान और लेखन के कारण नहीं, बल्कि 'मुख' बचन या 'शब्द' साधना के कारण है। इसके प्रमाण में यह साखी बहु प्रचलित है –

मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारों जुग को महातम, कबीर मुखहिं जनाई बात।

सुनने (श्रुत) की और मौखिक (मुख बचन परम्परा लिखने की परम्परा से बहुत पुरानी है। साधना के क्षेत्र में भी ये दोनों परम्पराएँ थीं। दीक्षा और मंत्र दोनों के यहाँ मौखिक ही हैं, लेकिन इसके बाद एक परम्परा शास्त्र से चिपक जाती है और दूसरी गुरुवचन को अपना प्रमाण मानती है। कबीर की शिक्षा-दीक्षा दूसरी परम्परा में हुई। वे शास्त्र को नहीं सद्गुरु के शब्द को ही सबसे बड़ा प्रमाण मानते थे। डॉ. माताप्रसाद गुप्त इसी पक्ष और परम्परा में कबीर को रखकर देखते हैं। डॉ. गुप्त का कहना है कि 'संत सम्प्रदायों में वाणी संग्रहों की एक परम्परा मिलती है। सम्प्रदाय भेद से इसमें कुछ अंतर आ जाता है, किंतु बहुत कुछ समानता होती है। इन संग्रहों में सम्प्रदाय के गुरुओं की वाणियों के अतिरिक्त उन संतों की वाणियाँ संकलित होती हैं जिनकी सम्प्रदाय में मान्यता होती है।' दादू सम्प्रदाय, सिख सम्प्रदाय में इस प्रकार के वाणी संकलन हैं। 'कबीर समय में भी इस प्रकार के संकलन ग्रंथ रहे होंगे और उनसे उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती संतों और योगियों की वाणियों का अध्ययन और अभ्यास किया होगा। कबीर अपनी परम्परा के किसी भी संत से कम शिक्षित-दीक्षित थे, यह मानने का कोई कारण नहीं है।' सिख गुरुओं और संतों की वाणियों (मुख

बचन) को लिखित रूप देने की परम्परा कबीर के जीवन काल से परवर्ती है। यह एक प्रकार से पोथी परम्परा का अनुकरण है।

कबीर ने गुरु को ईश्वर के समान महत्व दिया है –

सतगुर सवां न को सगा, सोधी सई न दाति।
हरिजी सवां न को हितू, हरिजन सई न जाति।

इतना महिमाशाली कबीर का दीक्षागुरु कौन है, यह अब तक निश्चित नहीं हो पाया है। जनश्रुतियाँ और भक्तों की परम्परा (कबीरपंथ भी) रामानंद को कबीर का गुरु बताती हैं।

भक्तों की परम्परा भी जनश्रुति के समान रामानंद को कबीर का गुरु मानती आई है। इसमें कबीर पंथी और पंथेतर भक्त सामान्यतः एकमत हैं। रामानंद को सबसे पहले कबीर का गुरु कहने वाले भक्त हरिराम व्यास हैं, जो कबीर के थोड़े ही परवर्ती थे। इस बारे में उनका एक पद है। देखिए –

साँचे साधु जु रामानंद।
जिन हरिजी सों हित करि जान्यों और जानि दुःख दंद।
जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानंद।
तब रैदास उपासिक हरि कौ, सूर सु परमानंद।

नाभादास और अनन्त दास भी इसका समर्थन करते हैं। उधर कबीर पंथ में रामानंद और कबीर के बीच गुरु-शिष्य सम्बंध को लेकर अनेक उक्तियाँ प्रचलित हैं –

– काशी में हम प्रकट भये, रामानंद चेताये।
– भक्ति द्राविड़े ऊपजी, लाये रामानंद।
प्रकट करी कबीर ने सप्तदीप नव खंड।
– सद्गुरु के परताप से मिटि गयौ सब दुख-दंद।
कह कबीर दुबिधा मिटि, गुरु मिलिया रामानंद।

आधुनिक हिंदी विद्वानों का भी एक बहुत बड़ा वर्ग है जो जनश्रुतियों और भक्तों की परम्परा का आँख मूँदकर समर्थन करता है। डॉ. श्यामसुंदर दास, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पं. रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी से लेकर डॉ. शुकदेव सिंह तक रामानंद को ही कबीर का गुरु मानने के पक्ष में हैं। डॉ. शुकदेव सिंह तो कबीर बीजक से एक अंतःसाक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है –

आपन आस किये बहुतेरा। काहु न मर्म पावल हरि केरा ।
इंद्री कहाँ करै विस्राम । सो कहँ गये जे कहते राम।
सो कहँ गये जो होत सयाना। होय मृतक वह पदहिं समाना।
रामानंद रामरस माते। कहै कबीर हम कहि कहि थाके।

कबीर गुरु को सबसे ज्यादा महत्व देते हैं। हो सकता है कोई उनका दीक्षा गुरु भी रहा हो, पर कबीर ने अपनी रचनाओं में किसी गुरु का नाम लिया नहीं है। अंतःसाक्ष्य में वे अपने आतमज्ञान या आतमराम को गुरु कहते हैं। एक परम्परा बुद्ध, महावीर आदि की आत्मदीपोभव की है, कबीर इसी परम्परा में जान पड़ते हैं।

कबीर ने किसी को अपना शिष्य बनाया था या नहीं, अंतःसाक्ष्य से इसकी कोई सूचना नहीं मिलती। दादूपंथी राघवदास ने अपने 'भक्तमाल' में कबीर ने नव शिष्यों - कमाल, कमाली, पद्मनाभ, रामकृपाल, नीर, धीर, ज्ञानी, धर्मदास और हरदास - का उल्लेख किया है। कबीर पंथ में वीरसिंह, बिजली, सुरतगोपाल, धर्मदास, तत्त्वा, जीवा, जागूदास, भागूदास, मलूकदास, गरीबदास आदि कबीर के मुख्य शिष्य माने जाते हैं।

7. मृत्यु, मृत्युस्थान और उससे सम्बद्ध घटनाएँ

कबीर की जन्मतिथि के समान उनकी मृत्यु तिथि भी विवाद के घेरे में है। कबीर पंथ में प्रचलित और विद्वानों द्वारा स्वीकृत तिथि संवत् 1575 है और उसका आधार यह दोहा है–

संवत् पंद्रह सौ पछत्तरा किया मगहर को गौन।
माघसुदी एकादसी रलो पवन में पवन।

इसके अलावा कबीर की मृत्युतिथि के रूप में 'पंद्रह सौ उनहत्तरा', 'पंद्रह सौ उनचास' और 'पंद्रह सौ पाँच' भी प्रचलित है। अंतःसाक्ष्य की दृष्टि से कबीर ने अपने पूर्ववर्ती भक्त नामदेव का नाम बड़े आदर से लिया है और उनका समय 13वीं-14वीं शताब्दी है। दूसरी बात कबीर के यहाँ 'मुगल' शब्द नहीं मिलता। मुगल बादशाह बाबर के भारत आक्रमण की तिथि निश्चित है। अतः कबीर का जीवन काल चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पहले दोनों के बीच ही बीता होगा। उनके मृत्युस्थान के रूप में 'मगहर' सबसे अधिक स्वीकृत है।

1.3 कबीर का साहित्य

कबीर के प्रामाणिक साहित्य की खोज, उनकी संख्या का निर्धारण, उनके पाठों का चयन और शुद्धता निर्धारण आसान काम नहीं हैं। कबीर पंथ में यह मान्यता प्रचलित है कि सद्गुरु कबीर साहेब की वाणी की कोई सीमा नहीं है –

जेते पत्र बनसपती, औ गंगा कै नैन।
पंडित विचारा क्या कहै, कबीर मुख बैन।

कबीरदास का यह अंतःसाक्ष्य 'मसि कागद छुयो नहीं' इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने जो कुछ कहा था, वह मौखिक ही था। इस बात से सभी विद्वान सहमत हैं कि कबीर-वाणी को लिखित रूप उनके पंथ और पंथेतर श्रद्धालुओं ने दिया होगा। किंतु उसमें कितना कबीर का अपना है और कितना श्रद्धालुओं का अपनी ओर से कबीर नाम से जोड़ा हुआ, दोनों को अलगाना बेहद मुश्किल काम है।

(क) कबीर-साहित्य की संख्या : कबीर साहित्य के सिलसिले में पहली समस्या यह उठती है कि उनके मूल साहित्य की संख्या कितनी है? कबीर साहित्य के खोजी विद्वानों ने पहले-पहल उनके साहित्य की संख्या निर्धारण का यत्न किया। कबीर साहित्य की व्यवस्थित खोजबीन और संख्या निर्धारण का पहला प्रयास जी.एच. वेस्टकाट ने अपनी पुस्तक 'कबीर और कबीर पंथ' (सन 1907) में किया। उन्होंने कबीर के 82 ग्रंथों की सूची दी। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' (सन 1910) में 75 'मिश्रबंधु विनोद' (सन 1929) के तीसरे संस्करण में 84, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संत कबीर' (सन 1943) में 86 ग्रंथों की सूची दी है। नागरी प्रचारिणी सभा के 1943 से 1955 के खोज विवरणों में यह संख्या 130 से 158 तक पहुँच गई। इनके बारे में विद्वानों की राय यह है कि एक ही रचना के कई संस्करणों के नाम गिना दिए गए हैं। कई रचनाएँ तो जाली और परवर्ती हैं, जैसे अनुराग सागर और कबीर मंसूर आदि। इनमें जिन विचारों का प्रतिपादन है, वे कबीर के क्रांतिकारी बाह्याडम्बर विरोधी विचारों से मेल नहीं खातीं। गोष्ठी से सम्बंधित सभी रचनाएँ कबीर पंथियों की साम्प्रदायिक श्रेष्ठताबोध की उपज हैं और ये सभी कबीर के बहुत बाद की हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी की इनके बारे में टिप्पणी गौरतलब है - 'निश्चित है कि यह

सारा कृतित्त्व कबीर का नहीं है। यह कबीर और कबीर पंथी संतों की रचनाओं की मिली जुली संख्या है।' और इनकी प्रामाणिकता भी संदेहास्पद है।

(ख) कबीर-वाणी के प्रामाणिक पाठ के प्रयत्न : कबीर-वाणी के प्रामाणिक पाठ की प्रस्तुति का पहला प्रयास नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की ओर से हुआ। इस कार्य की जिम्मेदारी पहले-पहल अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सम्भाली। तब से लेकर अब तक इस दिशा में प्रयत्न निरंतर जारी हैं। कबीर-वाणी के प्रामाणिक और अंतिम पाठ का निश्चय तो अभी तक नहीं हो सका है, लेकिन कुछ विद्वानों की रचनाएँ विचार के योग्य अवश्य हैं।

कबीर वचनावली (सन 1916) - सं. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध : अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने सन 1916 में 'कबीर वचनावली' का सम्पादन किया। हरिऔध ने बीजक, चौरासी अंग की साखी, कबीर शब्दावली, आदि ग्रंथों के आधार पर यह ग्रंथ तैयार किया है। इसमें 781 साखियाँ, 228 पद शामिल किए गए हैं; रमैनियाँ छोड़ दी गई हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी का इसके बारे में कहना है कि 'कबीर वचनावली को पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके सम्पादन में न तो आधार प्रतियों के पाठ की तुलना की गयी है, न भाषा, व्याकरण, अर्थ एवं देशकाल की दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता की जाँच की गयी, न लिपि भ्रम पुनरुक्ति आदि दोषों से उत्पन्न विकृतियों पर विचार।'

कबीर ग्रंथावली (सन 1928) सं. श्यामसुंदर दास : सभा की ओर से कबीर के प्रामाणिक पाठ की प्रस्तुति का दूसरा प्रयास बाबू श्यामसुंदर दास ने किया और सन 1928 में कबीर ग्रंथावली का सम्पादन किया। उन्होंने दो प्राचीन हस्तप्रतिलिपियों, पहली, - सं. 1561, दूसरी -सं. 1881, के आधार पर सम्पादन का कार्य सम्पन्न किया। दोनों में पाठ भेद कम है, लेकिन दूसरी में पहली से दोहों और पदों की संख्या कुछ अधिक है। इसमें कुल 809 साखियों, 400 पदों और 7 रमैनियों को शामिल किया गया है। इसकी प्रामाणिकता के बारे में विद्वानों के संदेह का कारण आधारभूत प्रति की 'पुष्पिका' है। उसकी लिखावट शेष ग्रंथ की लिखावट से मोटी है और बड़ी भी। सम्भव है लिपिकार अपनी लिपि प्राचीन बनाने के लोभ में ऐसा कर बैठा हो। दोनों प्रतिलिपियों पर राजस्थानी का असर स्पष्ट दिखाई देता है। यह कबीर का पूर्ण प्रामाणिक पाठ तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन कबीर के प्रामाणिक पाठ की खोज की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयत्न अवश्य कहा जा सकता है। इसकी भूमिका और परिशिष्ट भी महत्वपूर्ण हैं। 'परिशिष्ट' में श्यामसुंदर दास ने आदि ग्रंथ में संकलित कबीर की साखियों, पदों और रमैनियों को शामिल कर इसका महत्व बढ़ा दिया है। बीजक की पाठ परम्परा इसमें छोड़ दी गई है।

संत कबीर (सन 1943) - डॉ. रामकुमार वर्मा : डॉ. वर्मा ने सन 1943 में 'गुरुग्रंथ साहिब' में संकलित कबीर की वाणी पर 'संत कबीर' नाम से एक स्वतंत्र पुस्तक सम्पादित की। उन्होंने कबीर वाणी पर अपनी पुस्तक से पूर्व प्रकाशित छह ग्रंथों -संत बानी संग्रह (सन 1905) -बेलबेडियर प्रेस इलाहाबाद; बीजक श्री कबीर साहब (सन 1905) -साधु पूरनदास; सत्य कबीर की साखी (सन 1920)-बेंकटेश्वर प्रेस बम्बई; कबीर ग्रंथावली (सन 1928) - श्यामसुंदर दास; बीजक मूल (सन 1932)-कबीर चौरा बनारस; सतगुरु कबीर साहिब की साखी (सन 1935)-सया जी बाग बड़ौदा - की प्रामाणिकता को संदेहास्पद मानते हुए 'गुरुग्रंथ साहिब' के पाठ को सर्वाधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय माना। सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव द्वारा सन 1604 में संकलित और उनका सबसे पूज्य ग्रंथ होने के कारण वे इसका पाठ अविकृत मानते हैं। कबीर की भाषा का मूल रूप पूर्वी मानते हुए उन्होंने कबीर वाणी के ग्रंथ साहिब वाले पाठ पर यत्र-तत्र पंजाबी भाषा का प्रभाव स्वीकारा है। इसमें 243 सलोग (साखियाँ) 228 सबद (पद) संकलित हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी का इस संकलन के विषय में कहना है कि 'अत्यंत सतर्कता और सावधानी' के बाद कुछ सलोक नामदेव और रविदास के आ गए हैं। दूसरी बात कबीर और अर्जुन देव के संकलन

के समय के बीच जो फासला है उसमें प्रक्षेप की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। ऐतिहासिक महत्व रखते हुए भी 'संत कबीर' कबीर का पूर्ण प्रामाणिक और निर्दोष पाठ नहीं है।

कबीर बानी (सन 1965) - सं. अली सरदार जाफ़री : पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' पुस्तक (सन 1942) के परिशिष्ट-2 में 'कबीर-वाणी' का संकलन किया था। इसमें आरम्भ के 100 पद, क्षिति मोहन सेन के संग्रह से (रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित) लिए गए हैं। शेष 156 वे हैं जिनके आधार पर उन्होंने कबीर के सिद्धांतों का प्रतिपादन और समर्थन किया था। अली सरदार जाफ़री ने, यद्यपि आचार्य द्विवेदी का नाम नहीं लिया है, उनकी कबीर वाणी से 128 छंदों का संकलन सन् 1965 में तैयार किया और हिंदुस्तानी बुक ट्रस्ट, बम्बई से छपवाया। इसे तैयार करने के पीछे उनकी मंशा थी 'कबीर की मुकम्मल तस्वीर' पेश करना। इसके लिए हिंदी परम्परा के साथ इस्लामी सूफ़ी परम्परा में कबीर को देखने की जरूरत थी। हिंदू-मुस्लिम एकता, राष्ट्रीय भावात्मक एकता की दृष्टि से इस संस्करण का महत्व असंदिग्ध है, लेकिन कबीर-वाणी के पाठ की प्रामाणिकता के मद्देनज़र जाफ़री का प्रयास नदारद है। मौखिक परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण नए पदों का जुड़ना और भाषा में कुछ बदलाव आना लाजिमी है। डॉ. शुकदेव सिंह का कहना बिल्कुल संगत है कि 'कबीर के नाम पर मिलने वाली रचनाओं में एक भी ऐसी नहीं है जिसे शत-प्रतिशत कबीरकृत कहा जा सके। चूँकि मौखिक, श्रवण तथा संकलन की परम्परा कबीर के जीवन काल में ही प्रचलित हो गयी थी, अतः उनकी सारी कृतियों में प्रक्षेप और पाठांतर स्वाभाविक हैं।' इस संकलन की भूमिका और पाद टिप्पणियाँ कबीर के इस्लामी संदर्भ को समझने में बड़ी कारगर हैं।

कबीर ग्रंथावली (सन 1961) - सं. डॉ. पारसनाथ तिवारी : भारतीय हिंदी परिषद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ओर से सन 1961 में डॉ. पारसनाथ तिवारी ने नए सिरे से 'कबीर ग्रंथावली' को सम्पादित करते हुए प्रकाशन करवाया। उनके शोध निर्देशक डॉ. माता प्रसाद गुप्त का इस विषय में कहना है कि 'कबीर की रचनाओं के अनेक पाठ मिलते हैं और इनमें एक दूसरे से भिन्नता भी बहुत है। इन सभी पाठों को इकट्ठा करके उनके समालोचनात्मक अध्ययन और उपयोग का एकमात्र प्रयास प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक डॉ. पारसनाथ तिवारी ने किया है।' डॉ. तिवारी ने निर्गुणिया संतों की 9 शाखाओं की 17 प्रतियाँ- दादू पंथी शाखा की 5, निरंजनीशाखा की 1, आदि ग्रंथ की एक, बीजक की दो, शब्दावली की दो, साखियों की तीन, सर्वांगी की एक, गुणगणनामा की एक, आ. क्षिति मोहन सेन की एक-का विशद और गंभीर तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए कबीर-वाणी का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक शुद्ध पाठ निश्चित करने की कोशिश की है। कबीर के नाम से मिलने वाली 'साढ़े चार हजार साखियों', 'लगभग सोलह सौ पदों,'एक सौ चौतीस रमैनियों' के गहन तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि 'दो सौ पद (या सबद), बीस रमैनियाँ, एक चौतीसा रमैनी तथा सात सौ चौवालीस साखियाँ प्रामाणिक रूप से कबीर की सिद्ध होती हैं।' पच्चीस समुच्चयों को संकीर्ण सम्बंध समुच्चय मानकर उन्होंने छोड़ दिया। लेकिन इन्हें वे पूरी तरह से अप्रामाणिक नहीं मानते थे। उन्होंने बहुत स्पष्ट कहा कि 'इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन संकीर्ण-सम्बंध वाले प्रतिसमूहों में पृथक रूप से पाए जाने वाले सभी पद प्रक्षिप्त हैं। सम्भव है कि कुछ न कुछ प्रतिशत इनमें भी प्रामाणिक छंदों का हो, किंतु उस विशाल मिश्रित राशि में से उस छोटे प्रतिशत को अलग करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है।' अतः कबीर-वाणी की पूर्ण प्रामाणिकता के प्रति अपने अथक परिश्रम के बावजूद डॉ. तिवारी भी आश्वस्त नहीं थे।

कबीर ग्रंथावली (सन 1969)-सं. डॉ. माता प्रसाद गुप्त : डॉ. पारसनाथ तिवारी के समुच्चयों पर पुनर्विचार करते हुए डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने 'कबीर ग्रंथावली' का अपना पाठ तैयार किया।

कबीर बीजक (सन 1972) – सं. डॉ. शुकदेव सिंह : विद्वानों का एक वर्ग (वेस्टकाट, हरिऔध, डॉ. बड़थ्वाल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि) कबीर-वाणी का सबसे पुराना प्रामाणिक रूप बीजक को मानता रहा है। उससे प्रेरित होकर कबीर की मूल भाषा 'पूर्वी' मानकर आधुनिक वैज्ञानिक पाठानुसंधान की प्रक्रिया अपनाते हुए डॉ. शुकदेव सिंह ने बीजक के विभिन्न संस्करणों के चार समुच्चयों - दानापुर, फतुहा, भगताही-अ, भगताही-ब का गहन तुलनात्मक विश्लेषण और छानबीन की और वे निष्कर्ष पर पहुँचे कि चारों समुच्चयों के रूपांतरों में भगताही -अ समुच्चय प्राचीनतर और सुरक्षित रूपांतर जान पड़ता है। ..... भगताही- अ समुच्चय में प्रक्षेपण की क्रिया कम हुई है। जो भी हो, उक्त चारों समुच्चयों में बीजक का सर्वाधिक सुरक्षित रूप भगताही - अ में मिलता है।' उन्होंने बीजक में 84 रमैनियों, 115 सबदों, 353 साखियों, 12 कहरों, 12 बसंतों, 2 बेलियों, 1 विरटुली, 2 चाँचरियों, 3 हिंडोलों, एक चौंतीसा, 1 विप्रमतीसी को प्रामाणिक मानते हुए शामिल किया। डॉ. पारसनाथ तिवारी की ग्रंथावली को राजस्थानी परम्परा का पाठ मानते हुए उन्होंने उनके सम्पादन को पूर्णतः सार्थक नहीं माना। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से बीजक का प्रथम व्यवस्थित सम्पादन होने के कारण डॉ. शुकदेव के बीजक का महत्व निर्विवाद है, लेकिन जहाँ तक उसके पूर्ण प्रामाणिकता का प्रश्न है, रमैनी, सबद, साखी के अलावा सारे काव्य रूप, कहरा से लेकर विप्रमतीसी तक, बिहारी भाषा के विशेष प्रयोग के कारण परवर्ती जान पड़ते हैं, संदिग्ध हैं।

कबीर वाङ्मय (खंड-1 रमैनी-1974, खंड-2 सबद-1981, खंड-3 साखी-1976)- सं.डॉ. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंहः कबीर वाङ्मय को तीन खंडों-रमैनी, सबद, साखी में सम्पादित और प्रकाशित डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव ने किया। उन्होंने अपने सम्पादकीय प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'उनकी (कबीर की) वाणी पर मुख्यतः दो क्षेत्रों में काम हुआ है-एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा, दूसरा कबीर पंथियों द्वारा। शुकदेव सिंह द्वारा पाठ निर्धारण और प्रामाणिकता सम्बंधी किए गए कार्य अधिक वैज्ञानिक और सुसंगत हैं। किंतु इनमें ऐसा कोई ग्रंथ नहीं है जो कि कबीर के समग्र साहित्य को एक साथ उपलब्ध कराता हो। यदि 'ग्रंथावली' नाम से प्रकाशित ग्रंथों में साखियों और पदों का महत्व दिया गया है तो 'बीजक' में रमैनियों की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। साहित्यिक विद्वानों द्वारा 'कबीर ग्रंथावली को अपनाए जाने का परिणाम यह हुआ कि हिंदी के छात्रों का अध्ययन साखियों और पदों तक ही सीमित रह गया है। वे प्रायः रमैनी से अपरिचित ही रहे हैं, जबकि कबीर के विद्यार्थी के लिए रमैनी की जानकारी आवश्यक है। अतएव एक ऐसे ग्रंथ की नितांत आवश्यकता थी जिसमें कबीर का सम्पूर्ण साहित्य विस्तृत व्याख्या सहित उपलब्ध हो। प्रस्तुत ग्रंथ इसी दिशा में किए गए प्रयत्न का परिणाम है।' दरअसल डॉ. जयदेव सिंह ने कबीर ग्रंथावली और बीजक के बीच का रास्ता निकाला और पहले खंड में उन्होंने 84 रमैनियों दूसरे खंड में 350 सबदों, परिशिष्ट-1 में कबीर बीजक के अन्य काव्य रूपों; तीसरे खंड में 809 साखियों को रखा। ग्रंथावलियों और बीजक के बाद का सम्पादन होने के कारण उनमें जो भाषा सम्बंधी अशुद्धियाँ रह गई थीं उन्हें ठीक करते हुए अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक पाठ देने का प्रयास किया। भाषा शुद्धि और पाठ निर्धारण कबीर की भाषा को 'पूर्वी' मानकर किया गया है। इसकी विशेष उपयोगिता 'भावार्थ बोधिनी व्याख्या' के कारण है। यद्यपि कबीर के प्रामाणिक पाठ का प्रतिनिधित्व वाङ्मय भी नहीं करता। कबीर वाङ्मय के सभी खंड विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी से छपे हैं।

1.4 सारांश

कबीर का पूरा जीवन मध्ययुगीन भारतीय समाज व्यवस्था की अमानवीय विसंगति और विडम्बना का एक जीता-जागता दस्तावेज है। कारण कि वह इतनी जनश्रुतियों, अलौकिक

घटनाओं और चमत्कारों से घिर गया है कि उनके आधार पर कबीर के वास्तविक जीवन का, उनके जन्म-मृत्यु की प्रामाणिक तिथियों का पता लगाना अत्यंत कठिन है। कबीर का जमाना राजशाही का था और वे पैदा चाहे जिसके यहाँ हुए हों, लेकिन पालित-पोषित हुए थे एक गरीब जुलाहे परिवार में। उनका पेशा भी कपड़ा बुनकर-बेचकर जीवनयापन करने वाले जुलाहे का था। उस जमाने में जन्मपत्रियाँ राजाओं-बादशाहों और ऊँची जाति के समृद्ध लोगों की बनाई जाती थीं। इतिहास और वंशावलियाँ भी इन्हीं लोगों की लिखी जाती थी। समाज व्यवस्था के सबसे निचले स्तर के साधारण आदमी की जन्मपत्री या इतिहास की बात तो सोची ही नहीं जा सकती थी; पर इन्हीं के बीच कभी-कभार ऐसे लोग भी होते रहे हैं, जो अपने पुरुषार्थ से, असाधारण कर्म और लोक कल्याण से अपने जीवन में किंवदंती पुरुष बन जाते थे। कबीर ऐसे ही लोगों में से एक थे, जो नगण्य परिवेश के भीतर पालित-पोषित होकर अपने कर्म से लोक गण्य या लोक मान्य -'भया कबीर कबीर' - हो गए थे। कबीर की इस असाधारण ख्याति के बाद पंथ और पंथेतर लोगों को उन्हें पुराण-इतिहास पुरुष (भक्त) बनाने की चिंता हुई। कबीर की जन्म-मृत्यु की तिथियाँ और उनके जीवन से जुड़ी तमाम घटनाओं की खोज परवर्ती हैं। अंतःसाक्ष्य के रूप में भी कबीर के सम्बंध में खास सूचना नहीं मिलती। इसलिए उनके जीवन वृत्त के बारे में अंतःबहिर्साक्ष्यों का मिलान करके सम्भावित रूप में यही कहा जा सकता है कि उनका जीवन चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच बीता था।

जो स्थिति कबीर के जीवन की है, वही उनके साहित्य की है। उन्होंने लोगों के सामने वाणी कही थी, लेकिन स्वयं उनका लेखन और सम्पादन नहीं किया था। कबीर-वाणी का संग्रह और सम्पादन बाद के लोगों ने किया और वे अलग-अलग भाषा क्षेत्रों के थे। इसी कारण कबीर-वाणी के मोटे रूप से तीन पाठ मिलते हैं – राजस्थानी पाठ, पंजाबी पाठ, पूर्वी पाठ, जिनके आधार पर आधुनिक विद्वानों ने कबीर-वाणी के प्रामाणिक पाठ को प्रस्तुत करने की कोशिश की। इनमें से कोई भी पाठ कबीर की मूलभाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। केवल इतना कहा जा सकता है कि मध्यकाल में काशी-मगहर के बीच बोलचाल की भाषा कबीर-वाणी का आधार नहीं होगी। योगियों और सूफ़ियों से निकट सम्पर्क के कारण उनकी भाषा का खड़ापन उसमें अवश्य रहा होगा। पाठ संग्रह परवर्ती होने के कारण उनमें प्रक्षेप और भाषाविकृति की सम्भावना भी कम नहीं है।

1.5 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर के जीवन का संक्षेप में परिचय दीजिए।
2. कबीर के साहित्य पर विचार कीजिए।
3. कबीर के साहित्य की प्रामाणिकता की समस्या की संक्षिप्त चर्चा कीजिए।
4. कबीर के जीवन और साहित्य से सम्बंधित पाँच ग्रंथों के नाम बताते हुए संक्षेप में उनका परिचय दीजिए।

इकाई 2 कबीर का युग

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 कबीरयुगीन भारत के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

- 2.2.1 राजनीतिक परिप्रेक्ष्य
- 2.2.2 सामाजिक परिप्रेक्ष्य
- 2.2.3 आर्थिक परिप्रेक्ष्य
- 2.2.4 धार्मिक परिप्रेक्ष्य
- 2.2.5 सांस्कृतिक-साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

2.3 समकालीन परिवेश में कबीर की क्रिया-प्रतिक्रिया

2.4 सारांश

2.5 अभ्यास प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीरयुगीन राजनीतिक स्थिति से परिचित हो सकेंगे;
- कबीरयुगीन सामाजिक दशा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- कबीरयुगीन धार्मिक उथल-पुथल और अराजकता से परिचित हो सकेंगे;
- कबीरयुगीन सांस्कृतिक साहित्यिक दशा से परिचित हो सकेंगे;
- कबीर के व्यक्तित्व के निर्माण में युग-जीवन की भूमिका को समझ सकेंगे; और
- कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को हृदयंगम कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई से पहले की इकाई में आपने कबीर के जीवन और साहित्य के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर ली है। प्रस्तुत इकाई में हम कबीरयुगीन विभिन्न परिस्थितियों की समुचित जानकारी देने का प्रयास करेंगे। अपने विवेचन-विश्लेषण के इस क्रम में हम स्पष्ट रूप से देख सकेंगे कि सम्पूर्ण देश एक संक्रमण और अराजकता के दौर से गुजर रहा था। ऐसे वातावरण में देश की बहुसंख्यक उत्पीड़ित जनता ही दुर्दशा का सर्वाधिक शिकार बनती है। कबीर के युग से दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्णाश्रमवादी वैदिक-पौराणिक कर्मकांडी मान्यताओं के विरुद्ध लोकायतों और बाद में बौद्ध-जैन आंदोलनों ने बहुसंख्यक जनता का पक्ष लेकर एक नया सामाजिक-सांस्कृतिक कीर्तिमान स्थापित किया था। उत्तर भारत में चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात बहुसंख्यक जनता के पक्ष

को लेकर शुरू हुआ। कबीर नानक देव, रविदास, दादू, धन्ना, सेन आदि के माध्यम से एक नया सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन शुरू हुआ। इसमें कबीरदास ने अपनी नेतृत्वकारी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। एक अदम्य योद्धा की भाँति उन्होंने अपनी वाणी के माध्यम से निर्भीकतापूर्वक अपने युग-जीवन में हस्तक्षेप किया। उनके युग की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए समाज के कुछ विशिष्ट पहलुओं को केंद्र में रखकर हम आगे विचार करेंगे।

2.2 कबीरयुगीन भारत के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

कबीरयुगीन समाज में व्याप्त अव्यवस्था, अराजकता, उथल-पुथल के मूल में धर्म के साथ ही राजनीतिक गतिविधियाँ, सामाजिक, आर्थिक कुरीतियाँ भी समान रूप से भागीदार थीं। काजी, मुल्ला, पंडित, पुरोहित जैसे कर्मकांडी पाखंडियों के साथ ही ठाकुर, साहूकार-महाजन, सामंती व्यवस्था के तथाकथित भ्रष्ट सरकारी अमले विषैले कीटाणु की तरह समाज की जड़ें खोखली कर रहे थे। इन चहुँमुखी झंझावातों से झकोरे खाकर कबीर का व्यक्तित्व एक अप्रतिम शक्तिपुंज के रूप में दृढ़ हुआ था। इनके मुखौटों को उतार कर पूरी तरह पर्दाफाश करते हुए कबीर ने लोक-मानस को सद्मार्ग की ओर प्रेरित किया। उनका समग्र आग्रह-अनुरोध, आशा-आकांक्षा, लोक-कल्याण से प्रेरित था। तत्कालीन आपदाओं का उन्होंने एक क्रांतिकारी योद्धा की भाँति मुकाबला किया। पूरे भक्तिकाल में कबीर जैसा अक्खड़ दृढ़ और आक्रामक व्यक्तित्व दूसरा नहीं था। कबीर के थोड़ा परवर्ती और तुलसीदास के लगभग समकालीन नाभादास ने अपने भक्त कवियों के परिचय-ग्रंथ 'भक्तमाल' में कबीर के अद्भुत व्यक्तित्व को अत्यंत जीवंतता के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो ।
जोग जग्य ब्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ।
हिंदू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी ।
पच्छपात नहिं बचन सबहिं के हित की भाखी ।
आरूढ़ दसा होइ जगत पर मुख देखी नाहिन भनी ।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट् दर्शनी।

यहाँ नाभादास ने कबीर के वास्तविक महत्व का समग्र मूल्यांकन किया है। वर्णाश्रम एवं तमाम शास्त्र-सम्मत मर्यादाओं की खुलेआम निन्दा करते हुए कबीर ने हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए भक्ति का एक नया मार्ग प्रस्तुत किया। वह मार्ग था निर्गुण-निराकार की उपासना का। इसके माध्यम से दीन-हीन असहाय समझी जाने वाली उस समय की अछूत जातियों के लिए उन्होंने भक्ति का मार्ग खोल दिया। कबीर के निर्गुण मत में निम्न जातीय धार्मिक जनवाद की घोषणा अपने समय के लिए एक क्रांतिकारी संदेश था, जो व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति से लेकर उसकी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती थी। इसे अलग-अलग युगीन परिप्रेक्ष्यों में रखकर हम अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

2.2.1 राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

हर्षवर्द्धन की मृत्यु और पृथ्वीराज चौहान के पतन (640-1192 ई.) तक भारत राजनीतिक दृष्टि से पूरी तरह बिखर गया था। पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, कान्यकुब्ज जैसा सांस्कृतिक-राजनीतिक केंद्र शेष नहीं रह गया था। आपसी संघर्ष में यहाँ के राजे-रजवाड़े अपनी प्रतिरोधी क्षमता खो चुके थे। 1186 ई. में मुहम्मद गोरी ने लाहौर पर विजय प्राप्त कर हिंदू शक्ति को जबरदस्त धक्का दिया। इससे इस्लामी आक्रमणों का रास्ता साफ हो गया।

कबीर का समय तुगलक वंश के अंत और लोदी वंश, विशेषकर सिकंदर लोदी के शासन के मध्य पड़ता है। 1393 ई. में तैमूर के अत्यंत सुनियोजित और भीषण आक्रमण से भारत पूरी तरह हिल गया। उसने अपने आक्रमण का प्रमुख उद्देश्य हिंदू काफिरों को दंडित कर, बहुदेववाद और मूर्तिपूजा का अंत कर भारत को इस्लामिक राज्य में परिवर्तित करना बताया। उस समय दिल्ली सत्ता की केंद्र थी। गौरी ने उसकी अपार सम्पदा को लूटने के साथ ही उसकी सांस्कृतिक गरिमा को भी धूल-धूसरित कर दिया। 15 वर्षों तक की उथल-पुथल और अराजकता के बाद भी दिल्ली को सुशासन नसीब नहीं हुआ। मोहम्मद तुगलक की 'दिल्ली से दौलताबाद' वाली राजनीति का शिकार दिल्ली को बनना पड़ा। शासन सत्ता सैयद वंश के हाथ में जाकर भी निर्जीव ही रही। इस वंश के सभी शासक प्रायः कमजोर और कायर सिद्ध हुए। इस स्थिति का लाभ उठाकर लाहौर के शासक बहलोल लोदी ने दिल्ली का शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। उसके उत्तराधिकारी सिकंदर लोदी ने अपने शासन क्षेत्र का विस्तार करते हुए अपनी वीरता और कुशलता का परिचय दिया। अपने प्रशासनिक गुणों के बावजूद वह इस्लाम धर्म का कट्टर समर्थक होने के कारण देश की बहुसंख्यक हिंदू जनता के लिए अभिशाप ही बन गया। कबीर द्वारा हिंदू तत्ववाद की निंदा के साथ मुस्लिम तत्ववाद की कटुनिंदा की बात जब उस तक पहुँची तो उसने कई तिकड़मों से उन्हें प्राणदंड देने का प्रयास किया। इसके सम्बंध में कबीर की रचनाओं से कुछ संकेत तथा कुछ किंवदंतियाँ मिलती हैं, लेकिन इसके लिए कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता। सिकंदर लोदी के उत्तराधिकारी इब्राहिम लोदी को 1526 ई. में पानीपत के मैदान में परास्त कर बाबर ने मुगल वंश के शासन की नींव डाली, जिसे आगे चलकर उसके पोते अकबर ने अधिक दृढ़ करते हुए हिंदू-मुस्लिम समन्वय द्वारा अशोक के बाद भारत का दूसरा महान सम्राट बनने का गौरव प्राप्त किया।

जहाँ तक कबीर युगीन हिंदू राजे-रजवाड़ों का प्रश्न है, उनमें से कुछ अपनी किंचित स्वाधीनता के बावजूद इस्लाम के शाही दबदबे से भयभीत रहते थे। उनकी दृष्टि अपने राजमहल में रनिवासों और नर्तकियों के बीच भोग-विलास तक ही सीमित हो गई थी। उनके मनमाने खर्च का भार भी साधारण गरीब जनता के क्रूर शोषण से ही पूरा होता था। उत्तर भारत की भाँति दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल आदि की दशा भी कुछ ऐसी ही थी। ऐसे वातावरण में समाज के वर्चस्व-प्राप्त उच्च वर्ण द्वारा निम्न वर्ण का मनमाना शोषण हो रहा था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीरयुगीन राजनीतिक अस्थिरता और अराजकता के कारण देश की साधारण जनता को न तो इस्लामी सत्ता से और न ही हिंदू वर्चस्वशील समुदाय से अपने उद्धार की कोई उम्मीद रह गई थी। वैसे कबीर ने अपनी रचनाओं में किसी राजा या राजनीतिक घटना का उल्लेख नहीं किया है, बावजूद इसके राजनीतिक अराजकता और उथल-पुथल के अस्थिर वातावरण का दबाव उन पर अवश्य था। शासकों के मिथ्याभिमान, उनकी धार्मिक-सामाजिक कट्टरता का संकेत कबीर की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने राजसत्ता की क्षणभंगुरता और तत्कालीन कठोर दंड-व्यवस्था का उल्लेख भी किया है। कबीर-युग के राजनीतिक परिदृश्य पर विचार करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि मध्ययुग में राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति, संस्कृति नीति के मध्य पारस्परिक अलगाव नहीं होता। धार्मिक काजी, मुल्लों, पंडे-पुरोहितों को शाही-सामंती आश्रय प्राप्त होता है। इसके साथ ही ये धार्मिक नेता सामंतशाही की सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक नीतियों के निर्धारण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए कबीर को अपने युग की समग्र विकृतियों के निराकरण का अभियान चलाना पड़ा था।

2.2.2 सामाजिक परिप्रेक्ष्य

मध्यकाल में मुसलमानों के आगमन के साथ भारत में इस्लाम धर्म का प्रवेश हुआ। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सामंजस्य समन्वय और सौहार्द के अभाव और हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था पर आधारित भेदभाव मौजूद था। कबीरदास के सामने ये दोनों समस्याएँ एक गंभीर चुनौती बन गईं। अतः जहाँ एक ओर उन्होंने हिंदू-मुस्लिम कट्टरता पर आघात किया वहीं वर्णाश्रमवादी मान्यता पर भी प्रहार किया।

अद्वैत वेदांत के संस्थापक शंकराचार्य ने ब्रह्म और जीव की एकता और सत्यता का प्रतिपादन करते हुए जगत के मिथ्या होने की घोषणा की थी। लेकिन जल्दी ही सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से इस मान्यता के अंतर्विरोध की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने देखा कि यदि एक ही ब्रह्म सभी जीवों में मौजूद है और वही सबका जन्मदाता है तो ब्राह्मण और दलित में समानता होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में उस समय के सामंती समाज में वर्णाश्रमाधारित जातीय भेद-भाव को किस प्रकार न्याय-संगत ठहराया जा सकता है? इस अंतर्विरोध को दूर करने के लिए शंकराचार्य ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि केवल उच्च कुल में जन्मे लोग ही आत्मा और ब्रह्म के बीच अभिन्नता को समझ और प्राप्त कर सकते हैं। उपनयन संस्कार और वैदिक साहित्य के अध्ययन से वंचित दलित समाज इस अभिन्नता के अधिकारी नहीं हैं। उनकी मुक्ति का एकमात्र उपाय निष्ठापूर्वक सवर्णों की सेवा ही है। वानप्रस्थ और संन्यास जैसे आश्रमी कृत्य भी दलितों के लिए नहीं हैं। उन्होंने बड़े जोर-शोर से इस मान्यता का प्रतिपादन किया कि वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था ईश्वर द्वारा निर्मित है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। 'गौतम धर्मशास्त्र' और 'मनुस्मृति' द्वारा निर्धारित वर्ण और जाति व्यवस्था का अनुपालन सवर्ण और अवर्ण सबके लिए अनिवार्य है। इसे अकाट्य मानते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि समाज का धनी और निर्धन के बीच, उच्चतर और निम्नजातियों के बीच विभाजन (द्वैत) पूर्वनियमित है। इसे बदलने के प्रयास को उन्होंने ब्रह्म की सृष्टि में अनुचित हस्तक्षेप माना। लेकिन उनकी दृष्टि में परमार्थिक रूप में न कोई शोषक था न शोषित। शंकराचार्य के चिंतन का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यह है कि मीमांसा में प्रतिपादित अनुष्ठानों के कर्म-कांडों का तो उन्होंने विरोध किया लेकिन स्वयं कुछ नए कर्मकांडों और संहिताओं का निर्माण किया और इस बात पर जोर दिया कि ब्राह्मणों को इसका पूरी तत्परता से पालन करना चाहिए। इस प्रक्रिया में उन्होंने मूर्तिपूजा को केवल संगत ही नहीं ठहराया, वरन् अनेकानेक देवी-देवताओं की स्तुतियाँ भी रचीं। ये सारे विरोधाभास और अंतर्विरोध तत्कालीन सामंती सामाजिक संबंधों तथा जाति-व्यवस्था को न्यायसंगत ठहराने का सजग प्रयास ही माना जा सकता है। कबीर ने सदियों से चले आ रहे वर्णव्यवस्था के इस छद्म को भली भाँति पहचाना और अत्यंत आक्रामकता के साथ इसके निराकरण का प्रयास किया है। कबीरदास, शंकराचार्य के दार्शनिक-आध्यात्मिक अद्वैत को सामाजिक क्षेत्र में हिंदू-मुस्लिम एकता और सवर्ण-अवर्ण समानता के रूप में अवतरित करना चाहते थे। इसे शांकर अद्वैत दर्शन के अतिक्रमण के रूप में देखा जा सकता है।

कबीरदास को शांकर अद्वैत वेदांत का अनुयायी सिद्ध किया जाता है। इसके लिए प्रभूत उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। इसमें शक नहीं कि कबीर अद्वैतवादी हैं, लेकिन वे शंकराचार्य की समाजनीति के विरोध में अद्वैतवाद को समाज के क्षेत्र में भी उतारना चाहते हैं। इस प्रकार उन्होंने अध्यात्म-दर्शन को समाज-दर्शन के साथ जोड़कर देखने की आवश्यकता को रेखांकित किया। आज के संदर्भ में देखें तो मध्यकाल की भाँति आधुनिक युग में अद्वैतवाद का विकास असामाजिक पद्धति पर ही हुआ दिखाई देता है। इसने 'सु' और 'कु' अच्छाई और बुराई के बीच द्वैत की स्थिति को हमेशा नकारा है। कबीर की सामाजिक चेतना के संदर्भ में इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करने की जरूरत है।

2.2.3 आर्थिक परिप्रेक्ष्य

कबीरयुगीन राजनीतिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर विचार करते हुए हमने देखा कि वह व्यापक अराजकता का युग था। केंद्रीय सत्ता और समुचित प्रशासन के अभाव में समाज विशृंखलित होता है तो उसकी अर्थव्यवस्था का शिकार साधारण जनता बनती है। बारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में तुर्कों ने मोहम्मद गोरी के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण करके दिल्ली तथा पश्चिमी भारत के निकटवर्ती क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। 1206 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसके प्रधान सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने सत्ता प्राप्त कर गुलाम वंश की नींव डाली। उसके बाद खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश और लोदी वंश का दिल्ली पर अधिकार रहा। ये आक्रामक प्रजातियाँ भारत में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सुधार करने नहीं आई थीं। इनका उद्देश्य भारतीय जनता से अधिकाधिक करों की वसूली से अपने को सम्पन्न बनाना और इस्लाम मतानुयायियों की संख्या में वृद्धि करना था। इस समय में शेष रह गए हिंदू राजे-रजवाड़े भी स्वाधीनता की गरिमा से रहित होकर तथा जनकल्याण से विरहित होकर अधिकाधिक कराधान द्वारा सम्पत्ति एकत्र कर अपने ऐशोआराम में लीन थे। अपने आर्थिक शोषण के बावजूद साधारण जनता में प्रतिरोध की क्षमता नहीं रह गई थी। लेकिन भारतीय समाज में एक ऐसा तबका था जो धर्म को केंद्र बनाकर अपनी समानता के लिए संघर्षशील हुआ। वस्तुतः ये पेशेवर चेतना-सम्पन्न जातियाँ थीं।

नामदेव (दर्जी), कबीर (बुनकर-जुलाहा) रविदास (मोची), धन्ना (जाट-किसान) सेन (नाई), सदना (कसाई) आदि के रूप में निर्गुण संत पेशेवर जातियों से जुड़े हुए थे। दक्षिण भारत में भी इन्हीं निचले तबके के लोगों ने भक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया था। कृष्णभक्तों और रामभक्तों की तरह ये लोग दान-दक्षिणा और भिक्षा पर निर्भर नहीं करते थे। यह सही है कि इनके समूचे प्रयास के बावजूद हिंदू-मुस्लिम सामाजिक एकता और सवर्ण-अवर्ण का भेद करने वाली वर्णाश्रमी ऊँच-नीच, छुआ-छूत पर आधारित विभेद को मिटाने वाली समानता की स्थापना नहीं हो पाई।

2.2.4 धार्मिक परिप्रेक्ष्य

मध्ययुगीन समाज धर्म केंद्रित समाज था। उसकी राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति धर्म के केंद्र से संचालित होती थी। कबीर का युग सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल की अपेक्षा धार्मिक उथल-पुथल की दृष्टि से कुछ अधिक ही ग्रस्त था। जिस प्रकार आज के युग में कोई भी आंदोलन राजनीति का सहारा लेकर ही आगे बढ़ सकता है, उसी तरह मध्यकाल का आंदोलन धर्म के सहारे ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता था। कबीर के युग तक सिद्धपंथ, नाथपंथ, जैन साधना, सूफी साधना भारतीय समाज के कुछ सीमित क्षेत्रों में अपने लिए स्थान बना चुकी थीं। ये सभी सम्प्रदाय परम्परागत हिंदू धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं के विरोध में उठे थे। इन सम्प्रदायों के अधिकांश साधक उस समय निम्न कही जाने वाली जातियों से आए थे। ये सभी वेद और वैदिक बाह्याचार के विरोधी और वर्णाश्रमी जाति-पाँति की भावना के कट्टर शत्रु थे। सिद्ध, बौद्ध धर्म की सहजयानी शाखा के अनुयायी थे। इस शाखा के प्रसिद्ध रचनाकार सरहपा (सरोरुह-पाद) ने ब्राह्मणों की उच्चता पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि 'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से जब उत्पन्न हुए थे, तब हुए थे। अब तो वे दूसरों की तरह ही पैदा होते हैं। तब वे ब्राह्मण कहाँ रहे। यदि वे संस्कार से ब्राह्मण हैं तो फिर चांडाल भी उन संस्कारों से ब्राह्मण क्यों नहीं हो सकता। यदि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो चांडालों को वेद पढ़कर ब्राह्मण क्यों नहीं बनने दिया जाता। वस्तुतः वेदों का कोई प्रमाण नहीं है।' इसी प्रकार सरहपा ने 'शिवोपासक योगियों की निंदा करते हुए कहा है कि 'वे शरीर में राख

मलते हैं, सिर पर जटा धारण करते हैं, घर में दिया जलाकर, आसन बाँध कर घंटा बजाते हुए लोगों को गुमराह करते हैं। 'लेकिन परवर्ती काल में सिद्धपंथ विकृत होकर पंच मकार – मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन आदि के माध्यम से कौल, कापालिक और अघोरपंथ का शिकार हो गया। नाथ पंथ के गोरखनाथ ने इन विकृतियों का निराकरण करते हुए नारी-पुरुष और पारिवारिक जीवन की पवित्रता की रक्षा करते हुए हठयोग साधना को अंतःसाधना के रूप में प्रतिष्ठित किया। हठयोग में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों के माध्यम से कुंडलिनी जाग्रत करने की एक यौगिक प्रक्रिया का ब्यौरा दिया गया है। कबीर पर गोरखनाथ का प्रत्यक्ष और गहन प्रभाव पड़ा है, जिसे इस खंड की चौथी इकाई में विस्तार से स्पष्ट किया जाएगा।

अब तक कबीर के अपने परिक्षेत्र की धार्मिक उथल-पुथल पर विचार किया गया है। उत्तर भारत में अपनी जड़ें जमती न देख बौद्ध दक्षिण भारत की ओर अग्रसर हुए। वहाँ अपनी क्षमता और कुछ राज्याश्रय के सहारे अपनी जड़ें भी जमाईं। लेकिन कालांतर में शैव और वैष्णव पंथ के संयुक्त अभियान में कुछ राज्याश्रय का सहारा लेकर बौद्धों को अपने क्षेत्र से बाहर किया गया। आगे चलकर अपने वर्चस्व की स्थापना के लिए शैवों वैष्णवों के बीच भी रक्तरंजित संघर्ष हुए। यह वैमनस्य तुलसीदास के समय तक उत्तर भारत में भी बना हुआ था। शिव की पवित्र नगरी काशी में रामभक्त और वैष्णव उपासक तुलसी को शिव भक्तों का कोप-भाजन बनना पड़ा। फलस्वरूप उन्हें राम को शिवभक्त और शिव को रामभक्त सिद्ध करते हुए शैव और वैष्णव के समन्वय की विराट योजना करनी पड़ी। लेकिन कबीर ने इस प्रकार के समन्वय को तिलांजलि देते हुए सगुणोपासना में लीन शैव और वैष्णवों की समान रूप से निन्दा करते हुए अपने भक्तिमार्ग का निर्धारण किया।

कबीरयुगीन भारत में जैन धर्म और सूफ़ी धर्म ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। श्वेताम्बर, दिगम्बर – दो शाखाओं में विभक्त जैन मुनियों और आचार्यों ने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए प्रभूत साहित्य की रचना की। अपने 'जातक' और रासक ग्रंथों की प्रबंधात्मक रचना करके इन्होंने अपने युग की चेतना को ही मुखरित नहीं किया, वरन् रामकथा और महाभारत की कथा को आमूल परिवर्तित करके अपने सिद्धांतों का प्रचार किया। स्वयंभू, पुष्पदंत आदि दर्जनों जैन उपासकों ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। हिंदी के साथ ही इन्होंने राजस्थानी, गुजराती और दक्षिण भारत की कन्नड़ आदि कई भाषाओं के साहित्य को भी समृद्ध किया।

कबीर-युग में सूफ़ियों के रूप में इस्लाम धर्म की एक उदार धारा का भारत में उदय हुआ। इस धारा के कवि-साधक निर्गुण-निराकार के उपासक थे। हिंदी में कबीर द्वारा निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के साथ इसे प्रेमाश्रयी शाखा नाम दिया गया। भारतीय हिंदी लोक कथाओं को आधार बनाकर इन्होंने अपनी रचनाएँ लोक भाषा अवधी में की। इन्होंने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की सरस कथा कहकर हिंदी साहित्य की समृद्धि में अपना मौलिक योगदान किया। कुतुबन, मंझन, जायसी आदि दर्जनों सूफ़ी कवियों को ध्यान में रखकर देखें तो मात्रा की दृष्टि से यह निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। जायसी के 'पद्मावत' को भक्तिकाल के एक अद्भुत महाकाव्य के रूप में सम्मान प्राप्त हुआ है। कबीरदास का इस धारा के साधकों से सम्पर्क रहा है। ऐसा लगता है उनके 'प्रेम की पीर' को कबीर ने अत्यंत मौलिक ढंग से ग्रहण किया है। इस दृष्टि से देखें तो उन्होंने अपने युग के धार्मिक झंझावात के बीच से हिंदू-मुसलमान के साथ ही हिंदू सवर्ण अवर्ण के लिए समता पर आधारित एक उदार धार्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त किया, जिसमें मंदिर-मस्जिद, रोजा-नमाज, व्रत-पूजा, तीर्थ, स्नान आदि किसी भी बाह्याचार की जरूरत नहीं थी।

2.2.5 सांस्कृतिक-साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया है कि कबीर का युग राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टियों से पूरी तरह अराजकता का युग बन गया था। इससे एक नवीन सांस्कृतिक परिवर्तन की जरूरत उपस्थित हो गई थी। कबीर से हजार डेढ़ हजार वर्ष पहले एक ऐसे ही सांस्कृतिक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई थी, जिसकी पूर्ति बौद्ध और जैन धर्म के आंदोलनों ने की थी। इन आंदोलनों ने वैदिक कर्मकांडी बाह्याचार व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करके बहुसंख्यक जनजीवन से जुड़ी हुई एक नई सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया था। इसके फलस्वरूप अशोक से लेकर कनिष्क जैसे बौद्ध धर्म के अनुयायी शासक ही नहीं हुए, वरन् कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व विकास हुआ। अश्वघोष, शूद्रक जैसे साहित्यिक-सांस्कृतिक कर्मी हुए। पूरे भारत वर्ष में मानवता ने एक नई अँगड़ाई ली। विश्व के कई देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के माध्यम से अहिंसा और शांति का संदेश दिया गया। गणित, ज्योतिष, तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण खोजें हुईं। आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य शांतिरक्षित के 'तत्व संग्रह' नामक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ के बाद बौद्ध धर्म का प्रवाहमान स्रोत प्रायः सूख गया। सिद्धों की परम्परा के आगे चलकर वह तंत्र-मंत्र तक सीमित रह गया। नाथ पंथ के गोरखनाथ ने इसमें परिमार्जन का प्रयास अवश्य किया, लेकिन उनकी हठयोग साधना मात्र वैयक्तिक साधना तक सीमित रह गई। इसके माध्यम से सामान्य जनजीवन के लोकाचार को कोई ठोस आधार मिलना सम्भव नहीं था।

जहाँ तक जैन धर्म का सम्बंध है, उसका भी अभ्युदय लगभग बौद्ध धर्म के साथ ही हुआ। अपने आरम्भ काल से ही जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक असाम्प्रदायिक रहा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर शाखाओं में विभक्त होकर भी इनमें बौद्ध शाखाओं की भाँति तीव्र मतभेद नहीं रहा। जैन धर्म के अनुयायी काफी अनुशासित रहे हैं। इन्होंने अपने बहुत सारे सिद्धांत ग्रंथों के साथ अनेक प्रबंधात्मक रोचक कथाएँ, कहानियाँ, नाटकों आदि की रचना की है। अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के लिए इन्होंने रामायण, महाभारत जैसी लोकप्रिय कथाओं का सहारा लिया है। इन कथाओं के पात्रों और घटनाओं में कुछ परिवर्तन करके अपने धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति की गई है। उदाहरणस्वरूप विमल सूरि का 'पद्मचरित' लिया जा सकता है। इसमें दशरथ और राम दोनों को जैन धर्म में दीक्षित होते हुए दिखाया गया है। यह कार्य वाल्मीकि को मिथ्यावादी सिद्ध करते हुए किया गया है। 'जैन रामायण' और 'जैन महाभारत' जैसी रचनाओं में भी इसी नीति को अपनाया गया है। परवर्ती जैन प्रबंध काव्यों में स्वयंभू (8वीं सदी) और पुष्पदंत (10वीं सदी) के 'महापुराण' तथा 'णायकुमारचरिय' काफी रोचक और लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद जैन कवियों पर तत्कालीन सिद्धों और नाथपंथी योगियों का प्रभाव भी देखा जा सकता है। अतः इन कवियों में सामाजिक-धार्मिक बाह्याचार का विरोध, चित्त की शुद्धि पर जोर और शरीर को ही समस्त साधनाओं का केंद्र माना गया है। धार्मिक और दार्शनिक विषयों के अतिरिक्त इन्होंने लौकिक काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित, राजनीति आदि विषयों पर भी काफी लिखा है। हिंदी के साथ ही राजस्थानी, गुजराती, तमिल, तेलुगू और विशेष रूप से कन्नड़ साहित्य में इनका विशेष योगदान रहा है। लेकिन इसकी सबसे बड़ी कमी यह रही है कि बौद्ध धर्म की भाँति सामान्य जन-जीवन में इसे प्रवेश नहीं मिल सका।

उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन में सूफ़ी साधना का उद्भव एक विशिष्ट घटना है - कबीर के युग और भक्ति आंदोलन की दृष्टि से भी। कबीर से पूर्व मुइनउद्दीन (1142 ई.), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (1200 ई.), शेख चिस्ती (1291 ई.), निजामुद्दीन औलिया (1235 ई.), आदि सूफ़ी संत अपनी साधना का परिचय दे चुके थे। कबीर के बाद

भी कुतुबन, मंझन, जायसी के माध्यम से सूफ़ी प्रेमाश्रयी शाखा के रूप में यह निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के समानांतर प्रवाहमान रही है। सूफ़ी संतों को हिंदू एवं मुसलमान जनता का समान रूप से आदर प्राप्त हुआ। लेकिन कबीर की तरह तत्कालीन सामंती विकृतियों पर इन्होंने कोई आक्षेप नहीं किया। फिर भी इनकी 'प्रेम की पीर' को कबीर ने अपनी साधना का मुख्याधार बनाया। इस प्रकार अपने युग की साहित्यिक-सांस्कृतिक परख के बाद संग्रह-त्याग के विवेक का परिचय देते हुए कबीर ने एक नई क्रांतिकारी जीवनधारा की प्रतिष्ठा की।

2.3 समकालीन परिवेश में कबीर की क्रिया-प्रतिक्रिया

हमने अब तक कबीर के युग को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में रखकर समझने का प्रयास किया है। यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है कि कोई संस्कृतिकर्मी कवि-कलाकार के रूप में अपने युग की सच्चाई, उसके विविध-निषेधों, उसके वास्तविक अंतर्विरोधों को कितनी गहराई से समझ सका है और अपनी समाज समीक्षा में उसने क्या दृष्टि अपनाई है, इसी के आधार पर उसका महत्व निर्धारित किया जा सकता है। अपने युग से पूर्ण सम्पृक्ति के बिना कोई रचनाकार अपने को चिरस्थायी नहीं बना सकता। इस दृष्टि से विचार करें तो हम देखेंगे कि हमारी वैदिक संस्कृति के समानांतर बौद्ध और जैन विचार सम्पदा ने उसकी सांस्कृतिक पूँजी में लगातार वृद्धि की है। हर्षवर्धन के समय तक भारतीय संस्कृति का जो मूल निर्मित हुआ, उसमें यूनानी, शक, हूण, मंगोल, कुषाण आदि जातियों की संस्कृति का भी पर्याप्त मिश्रण है। इनमें से कुछ जातियों ने देश पर शासन भी किया है। लेकिन कालांतर में उन्होंने अपने को भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन में इस तरह घुला-मिला दिया कि उन्हें अलग से पहचान पाना मुश्किल है। इसे विशुद्ध हिंदू संस्कृति तो किसी रूप में नहीं कहा जा सकता। इस सम्बंध में अशोक के फूल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है : ''जिसे हम हिंदू रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का मिश्रण है। हमारे सामने समाज का जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित धारा की भाँति सबकुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।''

राजनीतिक परिदृश्य के अंतर्गत हमने देखा कि हर्षवर्धन के बाद देश में एक ठोस केंद्रीय शासन के अभाव में उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक देश छोटे-बड़े अनेक रजवाड़ों में बिखर गया था। ये स्वयं आपस में द्वंद्वरत थे। ऐसे राजनीतिक संक्रमण के काल में मुसलमान आक्रमणकारियों ने दिल्ली की शासन सत्ता संभाली। पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों से इनकी भिन्नता स्थापित करते हुए डॉ. शिवकुमार मिश्र ने लिखा है -''इस बार के आक्रमणकारी दूसरी ही धातु के बने हुए थे। वे दूसरे ही हवा-पानी में पले हुए थे। वे केवल भौगोलिक विजय अथवा भारत की अपार सम्पत्ति लूटने के इरादे से घर से नहीं निकले थे। उनका लक्ष्य भारत में मुसलमानी मजहब तथा एक ऐसा इस्लामी राज्य स्थापित करना था जैसा कि और मुस्लिम देशों में था।'' इनसे जनकल्याण की कोई उम्मीद नहीं की जा सकती थी। काजी-मुल्लाओं द्वारा निर्देशित इनकी धार्मिक कट्टरता शासन नीति के रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक ही नहीं आर्थिक विकास के भी आड़े आ रही थी। इसके साथ ही यह नीति हिंदू-मुसलमानों के बीच अलंघ्य विरोध की भावना भी भर रही थी। दूसरी ओर देशी राजे-रजवाड़ों की नीति पंडित-पुरोहितों द्वारा संचालित होकर पूरी तरह जनविरोधी हो चुकी थी। तीसरी तरफ काजी-मुल्ला और पंडित-पुरोहित सामान्य जनजीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न पर्वों-त्योहारों की आड़ में दान-दक्षिणा के माध्यम से जकड़े हुए

थे। अतः कबीर ने एक सामाजिक विकल्प, एक नए सांस्कृतिक समाज की अनिवार्यता को रेखांकित किया। इस प्रकाश-लोक की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा - 'जहँवा से आयो अमर वह देसवा। पानी न पौन न धरती अकसवा। चाँद न सूर न धरती अकसवा। बाम्हन छत्री न सूद्र वैसवा। मुगल पठान न सैयद सेखवा।'

कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध-नाथ की परम्परा को कबीर ने अपने ढंग से आगे बढ़ाया। सिद्धों-नाथों की जाति-पाँत विरोधी, सामाजिक समतावादी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए उन्होंने उनके ताम-झाम और बाह्याचार का विरोध किया। इस विरोध का स्वर काफी तीखा है :

मन ना रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा,
आसन मारि मंदिर में बैठे।
नाम छाड़ि पूजन लगे पथरा।।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौते,
दाढ़ी बढ़ा जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनियाँ रमौते।
काम जराय जोगी होइ गैले हिजरा।।
मथवा मुड़ाइ जोगी कपड़ा रंगौते,
गीता बाँच के होइ गैले लबरा।
कहै कबीर सुनौ भाई साधो,
जम दरवाजा बाँधत जैबे पकड़ा।

नाथपंथ विशेष रूप से गोरखनाथ का काफी प्रभाव कबीर पर बताया जाता है। उनके हठयोग-कुंडलिनी साधना को कबीर ने साधना के क्षेत्र में अपनाया भी है। लेकिन पंथ में प्रचलित बाहरी दिखावों - वेशभूषा और बाह्याचार की उन्होंने कटु निंदा की है। इसी प्रकार हिंदू-मुस्लिम सामाजिक-धार्मिक पाखंड एवं अंधविश्वास पर भी कबीर ने तीखी चोटें की हैं :

अरे इन दोउन राह न पाई ।
हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई ।
वैस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिंदुवाई ।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई ।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहीं में करै सगाई ।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ।।

कबीर ने परम्परागत हिंदू और मुसलमानों के सामाजिक-धार्मिक पाखंडों और मान्यताओं को त्यागकर उपेक्षित और पीड़ित जनता के लिए एक सुगम मार्ग दिखाया :

'संतो राह दुनौ हम दीठा।
हिंदू-तुरक हटा नहिं मानैं स्वाद सबनि को मीठा ।
हिंदू बरत एकादसि साधै, दूध सिंघारा सेती ।
अन को त्यागैं मन को न हटकैं, बारन करें सगोती ।

तुरक रोजा निमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं ।
इनकी भिस्त कहाँ ते होई, साझैं मुरगी मारै ।
X X X
हिंदू तुरक की एक राह है, सतगुर इहै बताई ।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई ।।

इस स्थिति को लेकर कबीर में कितनी तल्खी थी, इसे निम्न उक्तियों के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है :

जौ तू तुरक तुरकिनी जाया अंदर खतना क्यों न कराया ।
जौ तू बामन बामनि जाया आन बाट है क्यों नहिं आया।

केवल यही नहीं, वरन काजी को भी चुनौती देते हुए उन्होंने कहा है :

काजी कौन कितेब बखाने।
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते, गति एकौ नहिं जाने।।
सकति से नेह पकरि कै सूनत, यह न बंदू रे भाई,
और खुदाय तुरक मोहि करता तो आपै करि किन जाई।
हाँ तौ तुरक किया करि सुन्नति औरति सो का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटे आधा हिंदू रहिए,
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झख मारी।।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि आडम्बरपूर्ण बाह्याचार की यह स्थिति कबीर से पूर्व भी थी, कबीर के युग में भी थी और आज तक किसी न किसी रूप में बनी हुई है। कबीर की महत्ता इसमें निहित है कि उन्होंने निर्भीकता से अपने समय में इसका जोरदार खंडन किया था।

कबीर के सम्बंध में अपने युगीन परिवेश के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया की बात तब तक अधूरी रह जाएगी, जब तक अवतारवाद के सम्बंध में उनकी मान्यता का निरीक्षण-परीक्षण न कर लिया जाए। कबीर के युग तक अवतारवाद की पूर्णप्रतिष्ठा हो चुकी थी। वस्तुतः अवतारवाद हिंदू धर्म की एक ऐसी पौराणिक मान्यता रही है, जिसके आधार पर भारतीय वर्णव्यवस्था, जातीय श्रेष्ठता और हीनता की असामाजिक भावना को सबसे अधिक बल मिला है। इनमें भी विशेष रूप से दशरथ पुत्र राम की परमब्रह्म रूप में मान्यता कबीर के लिए अत्यंत घातक प्रतीत हुई। इसके प्रति कबीर के अस्वीकार की भावना को रेखांकित करते हुए डॉ. राजदेव सिंह ने लिखा हैः 'ब्राह्मण श्रेष्ठता में अविश्वास करने वाले, वेद में आस्था न रखने वाले लोगों की परम्परा इस देश में काफी पुरानी है, लेकिन उपलब्ध साहित्य एवं अन्य सम्बद्ध सूचनाओं के हिसाब से दाशरथि राम की भगवत्ता को अस्वीकार करने वाले प्रथम व्यक्ति कबीर थे। कबीर के बाद और तुलसी के पहले इस तरह के और भी बहुत सारे संतों का साहित्य हमें मिलता है।' कबीर ने पूरे आत्मविश्वास के साथ दशरथ-सुत राम के ब्रह्मत्व को अस्वीकार किया। अपनी मान्यता को और अधिक सही सिद्ध करने के लिए उन्होंने पूरे अवतारवाद की मान्यता पर इस प्रकार प्रश्न-चिह्न लगा दिया :

ना दशरथ घरि अवतरि आवा। ना लंका का राव सतावा।
देवै (देवकी) कूष न अवतरि आवा। ना जसवै ले गोद खिलावा।।
ना वै ग्वालन के संग फिरिया। गोबरधन ले न कर धरिया।।
बामन होइ नहीं बलि छलिया। धरती वेद ले न उघरिया।।
गंडक सालिग्राम न कोला। मछ कछ ह्वै जलहि नहिं डोला।।

बद्री वैसि ध्यान नहिं लावा । परसराम ह्वै खत्री न सतावा ।
द्वारामती सरीर न छाड़ा । जगन्नाथ लै प्यंड न गाड़ा ।।

इस प्रकार कबीरदास ने न केवल राम और कृष्ण के अवतार और उनकी विभिन्न लीलाओं को झूठा सिद्ध करते हुए बामन, कोल, कच्छप आदि अवतारों को ही काल्पनिक सिद्ध किया, अपितु गंडक, सालिग्राम, बद्रीनाथ, द्वारामती, जगन्नाथ आदि की पौराणिक मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया। वस्तुतः उस युग में अवतारवाद एक ऐसा मूलाधार था, जिस पर सारी पौराणिक मान्यताएँ टिकी हुई थीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीरदास ने परम्परागत मर्यादा से ग्रस्त तमाम सामाजिक-धार्मिक पाखंडों की कलई उतार कर समाज के लिए एक व्यापक और उदार सांस्कृतिक पीठिका प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। अपने युग के सामाजिक अंतर्विरोधों को गहराई से समझ कर उसके निराकरण में जिस आंदोलन का सूत्रपात कबीर ने किया था, वह लगातार चलता आया है।

2.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने कबीर के युग को अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में विभाजित किया है। इस प्रक्रिया में 'राजनीतिक परिप्रेक्ष्य' को पहला स्थान मिला है। वैसे कबीर ने अपनी कविताओं में किसी राजा या प्रमुख राजनीतिक घटना का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है। लेकिन राजनीतिक अराजकता और उथल-पुथल से पूरे देश का बहुसंख्यक समुदाय प्रभावित हुआ था। हर्षवर्द्धन के बाद केंद्रीय शासन सत्ता शिथिल होने पर देश छोटे-बड़े राजे-रजवाड़ों में विभक्त होकर पारस्परिक द्वंद्व का शिकार हुआ। ऐसी स्थिति में उत्तर भारत के प्रमुख सत्ता केंद्र, दिल्ली की शासन सत्ता पर मुसलमानों ने कब्जा कर लिया। कबीर के जीवन काल में दिल्ली पर तुगलक, सैयद और लोदी जैसे तीन इस्लामिक वंशों का शासन रहा। परवर्ती मुगल शासकों की भाँति जनकल्याण की शासन नीति इन्होंने नहीं अपनाई। देश की बहुसंख्यक हिंदू जनता इनकी अनुदारता का शिकार बनी। इस क्षेत्र से अलग हिंदू राजे-रजवाड़ों में भी जनकल्याण का कोई अवकाश नहीं रह गया था। राजसत्ता अपने निहित स्वार्थों में लीन थी। उसकी आय का मुख्य केंद्र किसान, शिल्पी, व्यापारी बने हुए थे। अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से ग्राम केंद्रित थी।

जहाँ तक समाज की बात है, हमने देखा कि है कि ग्रामाश्रित समाजार्थिक व्यवस्था में जागीरदारों, मुखिया, पंडित-पुरोहित और साहूकार-महाजनों छुआछूत का वर्चस्व बना रहा। यही तबका सामंती व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान किए हुए था। छूत-छात पर आधारित जातीय व्यवस्था में सवर्ण जातियों को निम्नवर्णीय जनता की मुक्त भाव से सेवा लेने को जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया गया था। सामाजिक दृष्टि से हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की अपेक्षा सवर्ण-अवर्ण के मध्य की विषमता अधिक घातक थी। कबीरदास ने ब्राह्मण-दलित के बीच की इस विषमता पर अधिकाधिक कटाक्ष किया है। प्रस्तुत इकाई में इसे कुछ उदाहरणों द्वारा भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सामाजिक-धार्मिक स्थिति पर विचार करते हुए इस इकाई में स्पष्ट किया गया है कि जहाँ कबीर की साखी, सबद, रमैनी' में हिंदू-मुसलमानों के हितों का समान रूप से पोषण हुआ है, वहीं शूद्रों/दलितों के पक्ष में कबीर ने 'षडदर्शनी वर्णाश्रम की मर्यादा', को निर्ममता से खंडित किया है। वस्तुतः यही कबीर का वास्तविक कबीरत्व है, जो उनकी एक अलग पहचान बनाता है। अपने पूर्व के और युगीन साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य पर भी कबीर की तीखी दृष्टि गई है। इन सारे तथ्यों को इकाई के अंत में 'समकालीन परिवेश में कबीर

की क्रिया-प्रतिक्रिया' शीर्षक के अंतर्गत विस्तार से उद्‌घाटित करने का प्रयास किया गया है।

कबीरदास ने हिंदू-मुस्लिम कट्‌टरता का विरोध किया, परम्परागत स्थापित सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं का विरोध किया, वैदिक-पौराणिक मान्यताओं का विरोध किया, सगुण मतावलम्बी दशरथ राम की अराधना नहीं की और समूचे अवतारवाद का विरोध भी किया। लेकिन उनकी सबसे बड़ी चिंता वर्णाश्रमी मान्यता में पलने वाली जाति-पाँत और छुआ-छूत की भावना ही रही है। इस तथ्य को प्रस्तुत इकाई में विशेष रूप से रेखांकित किया गया है।

2.5 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर के युग की राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. कबीरयुगीन धार्मिक उथल-पुथल के वातावरण को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
3. कबीरयुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य पर प्रकाश डालिए।
4. अपने युग-संदर्भ में कबीर की क्रांतिकारिता को स्पष्ट कीजिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 निर्गुण भक्ति परम्परा और कबीर

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 निर्गुण मत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और कबीर

3.3 निर्गुण भक्ति परम्परा

3.4 कबीर की निर्गुण-सगुण समन्वय साधना

3.5 कबीर की निर्गुण भक्ति के मूल उपादान

- 3.5.1 प्रेमाभक्ति
- 3.5.2 सहज साधना
- 3.5.3 रहस्य दर्शन
- 3.5.4 संत चेतना या सात्विक जीवन
- 3.5.5 आचारगत सुधारवाद
- 3.5.6 पाखंड-विखंडन
- 3.5.7 मानवमात्र की एकता
- 3.5.8 लोकतत्व
- 3.5.9 मृत्युबोध
- 3.5.10 श्रम की प्रतिष्ठा

3.6 अन्यान्य साधना पद्धतियाँ और कबीर का निर्गुण मत

3.7 सारांश

3.8 अभ्यास प्रश्न

3.0 उद्देश्य

'कबीर का युग और जीवन' खंड की यह तृतीय इकाई है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- निर्गुण भक्ति परम्परा के ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व से परिचित हो सकेंगे;
- निर्गुण भक्ति परम्परा में उपस्थित महान संत कवियों के मध्य कबीर के विलक्षण व्यक्तित्व-कृतित्व का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कबीर की निर्गुण भक्ति के विभिन्न घटकों का सोदाहरण अध्ययन कर सकेंगे; और
- इस मान्यता का भी पुनरीक्षण कर सकेंगे कि निर्गुण-सगुण-दोनों पृथक मत रहे हैं अथवा परस्पर पूरक रहे हैं।

3.1 प्रस्तावना

संत कबीर के काव्य का जितना ऐतिहासिक महत्व है, उतना ही उसका समसामयिक प्रयोजन है। भक्ति काव्य की सुदीर्घ परम्परा में कबीर जैसी प्रासंगिकता और किसी कवि

की नहीं है। उन्होंने परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया है, साथ ही चिंतन के कई नए आयाम भी विकसित किए हैं। वे ऐसे प्रथम साधक हैं जिन्होंने 'कागद की लेखी'(शास्त्र) के साथ 'आँखिन की देखी'(लोक अनुभव) को महत्व दिया था। कबीर ने निर्गुणतत्व का चिंतन करते हुए उसे वेदांत और एकेश्वरवादी दर्शन के साथ-साथ लोक जीवन से भी जोड़ा। उसे आत्मा-परमात्मा, ब्रह्म जीव, जगत, माया के बजाय दूल्हा-दुल्हिन के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया ताकि जनसाधारण उसे हृदयंगम कर सके, यही कारण है कि कबीर का निर्गुण मत अन्यान्य कवियों से पर्याप्त भिन्न और विशिष्ट है।

3.2 निर्गुण मत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और कबीर

हालाँकि निर्गुण का भाव वैदिक काल में भी मौजूद था पर भक्ति काल के दौरान निर्गुण साधना का प्रादुर्भाव हुआ। इसकी पहल करने का श्रेय गुरुनानक देव को है। उन्होंने प्रथम बार यह अनुभव किया कि ब्रह्म अनुभूति का विषय है और सर्वथा अनिर्वचनीय है। निर्गुण कवियों ने ब्रह्म के सगुणत्व का भी यदा-कदा संकेत किया। जैसे कबीर ने लिखा –

खुले नैनन पहिचानौं, हँसि-हँसि सुंदर रूप निहारौं

यह उक्ति सगुण मत के बहुत निकट है। इसमें अनूप की रूपानुभूति का स्पष्ट वर्णन है। यही परम्परा दादू, रैदास, सुंदरदास आदि से सम्बद्ध हो गई और वे भी निर्गुण-सगुण के विवेचन में प्रवृत्त हो गए।

निर्गुण में जिन गुणों की अनुपस्थिति का संकेत किया गया है, वे हैं छह लौकिक गुणः- नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और प्रपत्ति। भक्तों का यह मत रहा है कि ब्रह्म यों तो अरूप अदृश्य, अगोचर अर्थात इंद्रियातीत है अर्थात मन, वाणी, कर्म आदि से परे है किंतु लोककल्याण हेतु वह यदा-कदा माया की सहायता से अवतार धारण करता है । तब वह किसी नाम का आश्रय लेता है। उसका एक रूप बनता है और उसके साथ कुछ निश्चित धाम जुड़ते हैं। वह कुछ विशिष्ट लीलाएँ करता है और जो भक्त इस रूप में उनका ध्यान करते हैं, उन्हें अपना साहचर्य प्रदान करता है। इस मत से प्रेरित होकर भारतीय उपासना पद्धति में सगुणोपासना का प्रचलन हुआ किंतु कालांतर में यह अनुभव किया गया कि परब्रह्म-परमात्मा इन गुणों तक सीमित नहीं है। वह गुणातीत है, उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं। तात्पर्य यह कि सगुण की प्रतिक्रिया में यह निर्गुण मत उत्तर भारत में स्थापित हो गया।

भारतीय दर्शन में षट्दर्शन मूलतः नास्तिक दर्शन रहे हैं। योग, वेदांत, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक – इन सबके अनुसार तो ब्रह्म 'नेति-नेति' है किंतु जब भक्ति का आंदोलन प्रवर्तित हुआ तो वेदांत के ब्रह्मसूत्र के अनुसार आचार्यों ने उसे द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि रूपों में विभाजित कर दिया। हिंदी संत कवियों ने यह अनुभव किया कि निर्गुण-सगुण का पृथक विभाजन सर्वथा समीचीन नहीं है। कबीर स्पष्ट घोषित करते हैं –

गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाँट छाँड़ि क्यों रहिए।

वे अपने आराध्य को प्रायः 'राजाराम' कहकर सम्बोधित करते हैं। उन्हीं के समानांतर सिख कवि, जैसे गुरु अर्जुन देव राम के दोनों रूपों– निर्गुण, सगुण अथवा निराकार साकार छवियों का ध्यान करते हैं। उनके शब्दों में–

निरगुन सरगुन हरिहर मेरा

अथवा

निरंकार आकार आदि निरगुन सरगुन एक

यही मान्यता रामोपासक, कृष्णोपासक-सगुण कवियों की भी रही है। तुलसी ने स्पष्ट लिखा—

'हिय निरगुन, नयनहिं सगुन'— अर्थात चिंतन के क्षणों में तो निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हमारा ध्येय है किंतु खुले नेत्रों से जब तक उसकी छवि को निहार नहीं लेते, तब तक राम में मन रम नहीं पाता, तब तक मोहन की मनमोहिनी मूरत हृदय में बस नहीं सकती। तुलसी ने आध्यात्मिक दर्शन के स्तर पर निर्गुण की और भौतिक दर्शन (पर्यवेक्षण) के स्तर पर सगुण को अपनाने की बात कही। यही मान्यता सूर की भी रही। वे एक पद में लिखते हैं—

वेद उपनिषद जासु को निरगुनहिं बतावै,
सोई सगुन है नंद की दाँवरी बँधावै।

निष्कर्ष यह है कि संतकाव्य, सूफ़ीकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य और रामकृष्णेतर भक्ति काव्य में निर्गुण-सगुण का यह विकास-विश्लेषण विगत लगभग सात शताब्दियों से चल रहा है।

प्रश्न यह है कि क्या इन दोनों का पृथक वर्गीकरण अनिवार्य है? क्या किसी काव्यधारा को शुद्ध निर्गुणवादी या मात्र सगुणवादी कहा जा सकता है? हिंदी के विद्वानों में डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इस क्षेत्र में पहल की। उन्होंने इसे नाथों, सिद्धों, संतों से जोड़ा। पंडित परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' - शीर्षक ग्रंथ में विभिन्न संत सम्प्रदायों में व्याप्त निर्गुण मत का विवेचन किया और यह कहा कि तत्वतः वे निर्गुणवादी हैं और साधनात्मक स्तर पर वे सगुणवादी हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में और 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में निर्गुण-सगुण काव्यधाराओं का पृथक विभाजन किया जिससे कुछ परवर्ती इतिहासकार सहमत नहीं हो पा रहे हैं। उनका तर्क यह है कि 'कन्हावत' विष्णु के अवतार कृष्ण का लीलाख्यान है तो उसका रचयिता निर्गुण मत का समर्थक कैसे हो सकता है? संत कवियों में रैदास, दादू, प्राणनाथ, सुंदरदास, सहजोबाई, अग्रदास, नाभादास, ईश्वरदास आदि किसी न किसी रूप में रामानंद से प्रभावित रहे। आचार्य रामानंद एक ओर निर्गुण ब्रह्म की निराकारता, सर्वव्यापकता, अनुभूतिगम्यता, एवं अनिर्वचनीयता की पुष्टि करते हैं तो दूसरी ओर नवधाभक्ति और षोडशोपचार का भी विधान करते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म सर्वरूप है। भक्त को किसी भी रूप में उसे कल्पित करने का अधिकार है। जब वह कण-कण में व्याप्त है तो अरूप कैसे हो सकता है? एक ओर कबीर कहते हैं कि 'सब घट मेरा साइयाँ' तो दूसरी ओर तुलसीदास भी यही कहते हैं कि 'सियाराम मय सब जग जानी।' स्पष्ट है कि निर्गुण-सगुण की यह चिंतन-परम्परा 12वीं, 13वीं शताब्दी के भक्ति आंदोलन के साथ प्रारम्भ हुई और किसी न किसी रूप में वह अद्यावधि वर्तमान है। इसमें कबीर का सर्वाधिक महत्व यह है कि उन्होंने 'अनभै साँच' के रूप में निर्गुण मत का नया विमर्श प्रस्तुत किया है और उसे लोक-जीवन तक पहुँचाया है। जब वैष्णव मंदिरों पर सवर्णों का एकाधिकार हो गया और दलितों को मूर्तिपूजा से वंचित कर दिया गया तो इन संतों ने अपनी पिछड़ी बस्तियों में कुछ कामचलाऊ 'चौरे' बना लिए (उदाहरणस्वरूप-कबीर चौरा) और वहाँ सत्संग के लिए गाँव के किसान तथा श्रमिक वर्ग को आहूत किया। उन्होंने पहली बार 'पुरोहित वाद' को चुनौती दी, पुराणों को नकारा और सहजानुभूति के आधार पर सुनी-सुनाई यौगिक पद्धति के अनुसार एक नई उपासना-पद्धति विकसित कर ली। धीरे-धीरे उसमें रहस्यचेतना का संचार हो गया और उनका यह निर्गुण मत अखिल भारतीय स्तर पर इस प्रकार स्थापित हो गया कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर को भी कबीर की साखियों का अनुवाद करने की प्रेरणा प्राप्त हुई और वहीं से गीतांजली की पृष्ठभूमि निर्मित हुई। कबीर की यह वैकल्पिक व्यवस्था विश्व के उन तमाम देशों में लोकप्रिय हो गई, जहाँ भारतवंशी लोग अधिक संख्या

में रहते हैं। आरम्भ में इसे कबीर पंथ की शास्त्रीय पद्धति का विरोधी माना गया किंतु धीरे-धीरे उसे सगुण का पूरक दर्शन स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर तथा संतकवियों ने आचार्य शंकर के अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम के एकेश्वरवाद, नाथों-सिद्धों के शून्यवाद और योगियों के अलखनिरंजनवाद को मिलाकर एक ऐसे मतवाद की स्थापना की, जिसने सारे भक्ति आंदोलन को लोकोन्मुख बना दिया।

3.3 निर्गुण-भक्ति परम्परा

हिंदी संतकाव्य की निर्गुण धारा का आरम्भ कवि नामदेव से हुआ। उनके पदों में उपनिषदों के वेदांत अद्वैत का, नाथपंथ, इस्लाम और सूफ़ी दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। नामदेव की भक्ति भावना के मूल तत्व हैं - निर्गुण-सगुण से परे अनादि, अनन्त, अनाम, अज्ञात ब्रह्म, नाम-जप, मानसिक भक्ति, आडम्बरों का विरोध तथा मानवमात्र के प्रति प्रेम। इस परम्परा में दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है संत कबीर का। यद्यपि निर्गुण काव्य के कुछ तत्व गुरु नानकदेव की वाणी में भी प्राप्त होते हैं किंतु कालांतर में उनकी साधना पद्धति एक भिन्न दिशा की ओर मुड़ जाती है जिसे सम्प्रति 'सिख-दर्शन' कहा जा रहा है। हिंदी निर्गुण भक्ति परम्परा में कबीर के साथ-साथ जो कवि उल्लेख्य हैं, वे हैं - भक्त रैदास, दादूदयाल, मलूकदास, धर्मदास, सुंदरदास, अक्षर अनन्य, जम्भदास, सींगा, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी, पीपा, सेन, धन्ना, अंगद, शेखफरीद, भीषम, बीरभान, निपट निरंजन, गरीबदास, दूलनदास, बुल्लासाहब, सहजोबाई, तुलसीसाहब, निरंजनी, निश्चलदास इत्यादि।

उपर्युक्त समस्त कवियों ने एक ओर लोक संस्कृति को अपनाया, ग्रामीण व्यवस्था और दलित चेतना को स्वर दिया और दूसरी ओर भोगे हुए जीवन-यथार्थ का चित्रण करते हुए एक लोकवादी धर्मव्यवस्था एवं जनदर्शन की नींव डाली। इन्होंने जनभाषा में जहाँ प्रबोध काव्य लिखा, वहीं दूसरी ओर उलटबाँसियों से युक्त गूढ़ काव्य की भी सर्जना की। इन सबके काव्य में प्रगाढ़ प्रेमानुभूति और लोकमंगल की भावना व्यक्त हुई है। इन्होंने यथेष्ठ संगीत-साधना भी की है। इस ध्येय से प्रायः सभी कवियों ने पद, कजरी, सोहर, होली, ब्याहुला, सोरठा आदि छंदों का प्रयोग किया है। यही इनकी सबद-साधना है। इन कवियों का एक प्रयोजन था – निर्गुण-सगुण का एकीकरण। इनके निर्गुण राम वेदांत के निर्गुण ब्रह्म भी हैं, कहीं-कहीं विश्व से परे भी हैं और विश्व में व्याप्त भी हैं। कबीर के शब्दों में –

गुन में निरगुन, निरगुन में गुन, बाँट छाँड़ि क्यों रहिए।
अजर-अमर कहै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
जाति-सरूप बरन नहिं जाके, घटि-घटि रह्या समाई।।
प्यण्ड ब्रह्मांड कहै सब कोई, आदि अंत ना होई।
प्यण्ड ब्रह्मांड छाँड़ि से कहिए, कहै कबीर हरि सोई।।

इसलिए कबीर ने यह प्रबोध दिया कि –

निरगुन राम जपहु रे भाई,
अविगत की गति लखी न जाई,
चारि बेद जाके सुमृत पुराना, नव ब्याकसां करम न जाना।

इस 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से प्रेरित होकर इन कवियों ने रहस्यवादी उद्‌गार प्रकट किए हैं। उन्होंने पोथी ज्ञान की उपेक्षा की और आत्मज्ञान का आश्रय लिया। इनमें नामदेव की

भूमिका कुछ द्विविधात्मक रही है। वे निर्गुण सम्प्रदाय के संत थे और भगवान विट्ठल के उपासक थे। उनकी भक्ति मूलतः नामस्मरण पर आधारित है। वे एक ओर निराकार की उपासना करते हैं, दूसरी ओर वैष्णव अवतारों का लीलागायन भी करते हैं। जैसे –

तारियले गनिका, बिन रूप कुबिजा, बियाध अजामिल तारियले।

गुरुनानक देव एक ओर उच्चकोटि के दार्शनिक थे और दूसरी ओर महान समाज सुधारक भी। उन्होंने अखंड सर्वशक्तिमान परमात्मा की भक्ति का संदेश दिया और शुद्ध आचरण पर जोर दिया। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि निर्गुण संत कवियों में गुरुनानक एकमात्र अपवाद हैं जिन्होंने कहीं किसी रूप में नारी निन्दा नहीं की है। उनकी रचनाएँ 'महला' नाम से गुरुग्रंथ साहब में संकलित हुई हैं। उनकी विचारधारा जहाँ 'सिख सम्प्रदाय' के रूप में स्थापित हुई वहीं 'उदासा' सम्प्रदाय की प्रेरक भी सिद्ध हुई।

इस मत के एक महत्वपूर्ण साधक संत हैं – 'रैदास'। निर्गुण संत परम्परा में इनका ऐतिहासिक स्थान है। वे रामानंद के शिष्य थे और उनकी विचारधारा के सच्चे संवाहक भी। उन्होंने निर्गुण-सगुण का विवाद त्यागकर रामानंद के संदेश को आत्मसात किया, वे यद्यपि अन्त्यज कुल में पैदा हुए थे, जैसा कि उनके आत्मकथ्य से स्पष्ट है –

सूद्रबरन करता गुजराना

और

जातिकुट बादला ढोर ढोवंता

इन्होंने अपनी राँपी और कठौती को भक्ति साधना का उपकरण बनाया। उनके चमत्कारों के संदर्भ में अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ/जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि वह मीराबाई के गुरु थे। रैदास का भक्ति दर्शन न वेदपुराण विरोधी था और न पूर्णतः शास्त्रोक्त। मध्ययुगीन वर्ण व्यवस्था के कारण उन्हें ज्ञानार्जन का अवसर नहीं मिला था। एक प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट कहा है-

पंडित गुनी कोउ ढिङ्ग न बिठाए

किंतु इस निरक्षरता की कोई ग्लानि उन्हें नहीं थी। उन्होंने बड़े आत्मतोष के साथ यह कहा-

कागज कलम मसि कछू न जाना

रैदास के पदों में वर्गविहीन व्यवस्था और साम्प्रदायिक समन्वय का संदेश दिया गया है। वे कहते हैं-

एक जोति से जड़ जम उपजै।

वे यह भी मानते रहे हैं कि –

'जनम के कारने होत न कोऊ नीच

और यह भी कि –

'एकै माटी के सब भाड़े, सबका एकइ सिरजनहारा।

रैदास ने जनसेवा तथा श्रम की प्रतिष्ठा को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने -

'जौ मन चंगा तौ कठौती में गंगा' का संदेश दिया था और ऐसी व्यवस्था की कल्पना की थी जिसमें न निठल्लापन हो और न अंध भौतिक भोग। वे कहते हैं –

ऐसा चाहौं राज मैं जहँ मिलै सबन को अन्न ।

रैदास जन्मना हिंदू थे पर हिंदुत्व और इस्लाम में कोई अंतर नहीं रखते थे। उनके अनुसार राम-रहीम एक ही हैं –

सबही राम को रूप हैं, केसव राम करीम।

वे मानते हैं –

जब राम नाम कहि गावैगा, तब भेद अभेद समावैगा

रैदास की भक्ति पद्धति एक ओर मानस पूजा वाली है और दूसरी ओर नवधा भक्ति से प्रभावित भी है। वे कहते हैं –

मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सोऊ सहज सरूप।

दूसरी ओर –

शंख चक्र औ गदा बिराजै, चौथे हाथ पदुम सुख साजै।

इस आराध्य के प्रति वे बराबर रूपासक्ति और परम विरहासक्ति का अनुभव करते हैं । वे मधुरा भक्ति के समर्थक हैं और दास्य भक्ति के भी। आराध्य के प्रति उनकी तन्मयता इन पंक्तियों में अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई पड़ती है 'प्रभु जी तुम चंदन हम पानी' ..... 'प्रभु जी तुम दीपक हम बाती' ..... 'प्रभु जी तुम घन बन मन मोरा' ..... 'प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा' ....। रैदास के पदों में संतत्व का संदेश दिया गया है। वे बराबर पाखंडों पर प्रहार करते रहे किंतु उनकी वाणी में कर्कशता नहीं है। उनके उपदेशों का सार है– सत्य, संतोष, सादगी, सदाचार और आत्मप्रतीति। इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्गुण संत कवियों में यह सबसे अधिक उदारमना कवि रहे हैं। एक उदारमना कवि जिनको किसी वर्ण, वर्ग, मतवाद और साधना पद्धति से प्रतिबद्ध नहीं कहा जा सकता।

अखा – गुजराती संत कवि अक्षयदास (अखा) उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानी थे। इनकी 'अखानी वाणी' 'अक्षय रस' नामक ग्रंथ में संकलित है। इन्होंने झूलना, धमार, कुंडलिया, सोरठा, साखी, सबद, भजन आदि कई काव्यरूपों का प्रयोग किया है। इन्हें गुजरात का 'कबीर' कहा जाता है। उन्हीं की तरह ये फक्कड़ भी थे। इनकी रचनाओं में आत्मानुभूति का सहज प्रवाह दिखाई पड़ता है।

धर्मदास – संत कबीर के उत्तराधिकारी 'धनी धर्मदास' आरम्भ में सगुणोपासक थे। कबीर के सम्पर्क में आकर ये निर्गुनियाँ बन गए। साथ ही कबीर पंथ के प्रचारक भी। लोक शैली में रचित इनके बारहमासा, होली, बसंत आदि में कबीर के दर्शन का परिविस्तार देखा जा सकता है।

मलूकदास – इनकी गणना रामोपासकों में भी होती है और संत परम्परा में भी। इनके नाम से मलूकदासी सम्प्रदाय विकसित हुआ है। अवधी भाषा में रचित इनके लगभग एक दर्जन ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इन रचनाओं में अवतारवाद का समर्थन भी दिखाई पड़ता है और निर्गुण-सगुण का समन्वय भी।

नरसी मेहता – गुजराती के आदि संत कवि 'नरसिंह' कृष्ण-लीलागायन और गुर्जरी हिंदी के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी भक्ति पर महाप्रभु चैतन्य की मधुरोपासना का प्रभाव दिखाई देता है और उस पर वेदांत का भी प्रभाव है।

दादू दयाल – ये कबीर से बहुत प्रभावित थे। इन्होंने बाह्याचारों का खंडन करते हुए सेवक-सेव्य भाव को महत्व दिया है। दादू की वाणी उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय रही है। उनकी शिष्य परम्परा में 150 से अधिक संत गिनाए गए हैं। उन्होंने वैष्णवों की अहिंसा, योगियों की चित्तवृत्ति विरोध और सूफियों की प्रेमसाधना का जो मिला-जुला विधान बनाया, उसे 'दादू पंथ' कहा जाता है। उनके शब्दों में –

दादू सगुन निगुन द्वै रहे, जैसा हो तैसा लीन,
हरि सुमिरन लेउँ लाहिए का जाणौं का कीन्ह।

तुकाराम - संत एकनाथ के सत्संग में और विट्ठल की भक्ति पद्धति में संत तुकाराम ने अनेक ऐसे अभंगों की रचना की है जिनमें निर्गुण-साधना का संदेश है। इन पर भी कबीर का गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

दरिया साहब - इनका आविर्भाव 18वीं शताब्दी में हुआ था। उत्तर भारत में ये कबीर के अवतार माने जाते हैं। संत दरिया साधु और गृहस्थ, हिंदुत्व और इस्लाम, सगुण और निर्गुण-सबके समर्थक थे। उनकी रचनाओं में नाम महिमा, गुरु भक्ति हठयोग, मोक्ष, माया और भजन-इन सबका संतुलित विवेचन किया गया है।

जगजीवन दास - दादू पंथी जगजीवन दास 'सतनामी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक थे। इन्होंने अवधी में अनादि-अनन्त ब्रह्म की जो विवेचना की, वह 'शब्द सागर' अर्थात् जगजीवन साहब की बानी में समाहित है।

चरनदास - ये राजस्थान के प्रसिद्ध संत कवि हैं। इनकी रचनाओं में योग, ज्ञान, भक्ति की चर्चा है और कृष्ण लीलाओं का गायन भी। सहजोबाई, दयाबाई आदि इन्हीं की शिष्या थीं। इनके 15 ग्रंथ पुस्तकाकार प्रकाशित हैं।

पलटूदास - अवध के प्रसिद्ध संत कवि पलटू साहब ने कबीर की साखियों के आधार पर कुंडलियों की रचना की। इनका दार्शनिक चिंतन और प्रेमपंथ अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक है।

विभिन्न निर्गुण सम्प्रदाय - उपर्युक्त संत कवियों के अतिरिक्त शताधिक ऐसे कवि इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होते हैं जिन्होंने संत कबीर की साधनापद्धति और विचारधारा को न्यूनाधिक परिवर्तन परिवर्द्धन के साथ विगत छह शताब्दियों में भरसक प्रचारित-प्रसारित किया है। इनके सम्प्रदायों के कुछ नाम निम्नलिखित हैं –

गरीबदासी सम्प्रदाय, निरंजनी सम्प्रदाय, सतनामी सम्प्रदाय, रामदासी, प्रणामी, हरिदासी, बारकरी आदि।

3.4 कबीर की निर्गुण-सगुण समन्वय साधना

कबीर की साधना उभयपक्षीय है। एक ओर वे राम को पूर्णतः निर्गुण, सहज, अलख, निरंजन और निराकार मानते हैं और दूसरी उन्हें अपना 'पीउ' और जननी कहते हैं -

i) हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।

ii) हरि जननी मैं बालक तोरा।

कबीर एक ओर यह मानते हैं कि मैं ही ब्रह्म हूँ। सम्पूर्ण विश्वप्रपंच मिट जाता है पर मेरा आत्म अमिट है -

हम न मरब मरिहैं संसारा।

वे कहते हैं कि वह पिंड भी हैं, ब्रह्मांड भी हैं और पिंड-ब्रह्मांड से परे भी हैं। कबीर के अनुसार निर्गुण-सगुण का यह द्वंद्व पंडितों ने खड़ा कर दिया है और यह बखेड़ा हमें दिग्भ्रमित कर देता है। कबीर के शब्दों में -

संतो धोखा कासूँ कहिए।
गुन में निर्गुन, निर्गुन में गुन बाँट छाँड़ि क्या बहिए।

कबीर यह मानते हैं कि ब्रह्म मात्र अनुभूति का विषय है, सर्वथा अभिव्यक्ति से परे है। किंतु लौकिक प्रयोजन से वह भक्ति से द्रवित होकर सगुण भी बन जाता है। वह सृष्टि रूप में अपना विस्तार कर लेता है और सबमें समा जाता है –

सबमैं आप, आप सबहिन में, आप आपसुँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै।
सोच-बिचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै।
कहैं कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै।।

संत कबीर यह मानते हैं कि यह परमात्मा ही विश्वप्रपंच का सृष्टिकर्ता है इसलिए उसके अंतर्मन में कर्तृत्वशक्ति तथा लौकिक गुण वृत्ति का अनिवार्यतः समावेश हो जाता है। उसी प्रकार जैसे भ्रूण को धारण करके जननी एक रूप का सृजन करती है। दूसरी ओर कबीर यह भी मानते हैं कि यह ब्रह्म अनेक अंतर्विरोधी गुणों से युक्त है। वह कुछ नहीं और सब कुछ है। वह बिना मुख के खाता है, बिना चरणों के चलता है और बिना जिह्वा के गाता है –

बिनु मुख खाइ चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।

यह उल्लेखनीय है कि कबीर का यह सूत्र सीधे उपनिषदों से गृहीत है। वहाँ कहा गया था - 'तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तदन्तिके' - अर्थात् वह परमतत्व स्थिर भी है, गतिशील भी है, निकट भी है और अपरम्पार भी। इसी उक्ति को आत्मसात करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा था –

बिनु पद चलै, सुनै बिन काना,
बिनु कर कर्म करै विधिनाना।
आनन रहित सकल रस भोगी
बिनु बानी बक्ता बड़ जोगी।।

तात्पर्य यह है कि औपनिषदिक दर्शन से लेकर भक्तिकाल तक ब्रह्म के इसी उभयात्मक स्वरूप का दर्शन-दिग्दर्शन किया जाता रहा है। अयोध्या, मथुरा, काशी आदि तीर्थों के मंदिर वर्ष पर्यंत विभिन्न पर्वोत्सवों से जुड़ गए। रासलीला, रामलीला और शिवोपासना अत्यंत प्रचुरता और गहनता से होने लगी ताकि आम आदमी उनके रस में निमग्न हो जाए। अपना सर्वस्व इनके चरणों में अर्पित कर दे। इस प्रकार से मंदिर शक्ति केंद्र बन जाए और आराध्य देव के श्रीविग्रह टूटने से बच जाएँ। इससे सगुण भक्ति काव्य में अनेक प्रकार के अंधविश्वास भर गए। उपनिषद के स्थान पर पौराणिक कथाएँ जनमानस में छा गईं। पुरोहितों की बन आई और ये उपासना स्थल शोषण के निमित्त हो गए। इसकी प्रतिक्रिया में कई नए संत सम्प्रदाय उठ खड़े हुए और वहीं से निर्गुण-सगुण का विवाद नए सिरे से गहरा गया।

कबीर का निर्गुण निरंजन ब्रह्म न शून्य था और न अनात्म। वह एक भावात्मक सत्ता थी जिसे कबीर ने परमदयालु, भक्तवत्सल तथा करुणामय कहा है। वह बहुत परदुःखकातर है। निर्गुण होते हुए भी वह अनंत गुणों का सागर है। कबीर तो स्पष्ट कहते हैं –

सात समँद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
औ धरती सब कागज करौं, तउ हरि गुन लिखा न जाय।

आरम्भ में कबीर ने वैष्णव भक्तों के समान इन सगुण वाची सम्बोधनों का बहुत अधिक प्रयोग किया है–राम, हरि, गोविंद, मुकुंद, मुरारी, विष्णु, मधुसूदन, गोवर्द्धनधारी, गिरिधर आदि। यथासंदर्भ उन्होंने रामकथा और कृष्णकथा के भी कई प्रसंग उठाए हैं। जैसे –

मुनि वसिष्ठ से पंडित ग्यानी, सोधि कै लगन धरी।
सीता हरन, मरन दसरथ कौ, बन में विपति परी।।

तथा

कबीर के निर्गुण राम सर्वथा अव्यक्त और इंद्रियातीत हैं। वे कहते हैं –

निर्गुन राम जपहु रे भाई,
अविगत की गति लखी न जाई।

यही बात प्रकारांतर से सूरदास ने भी कही है –

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते, सूर सगुन लीला पद गावैं।
अविगत गति कछु कहत न आवै।

सगुण भक्तों का यह विचार है कि निर्गुण की साधना क्लिष्ट है, दुस्साध्य है, जबकि गोस्वामी जी इससे कुछ भिन्न मत रखते हैं। वे एक प्रसंग में कहते हैं –

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जानि नहिं कोय।
सुगम, अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय।।

कबीर के राम निर्गुण भले हों पर वे त्रिगुणातीत नहीं हैं। वे मन से गोचर हैं, इसलिए उपासना के आलम्बन हो सकते हैं वे निराकार और निस्सीम हैं पर निर्विषय नहीं हैं। कबीर ने यत्र-तत्र-सर्वत्र उन पर मानवीय गुणों का आरोप किया है। उनके आराध्य परम प्रियतम हैं, दिव्य गुणों वाले कर्ता हैं। वे शोभा के पुंज हैं और उनकी छवि बहुत कुछ विष्णु की आकृति से मिलती-जुलती है –

जाके नाभि पदमसू उदित ब्रह्म, चरन गंग तरंग रे
कहैं कबीर हरि भगति बाँछू जगत गुरु गोब्यंद रे।

अर्थात इन्हीं राम ने सृष्टि रची और यही राम भक्त-भगवान की सायुज्य मुक्ति के प्रेरक हैं।

निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि कबीर की यह निर्गुण-सगुण मीमांसा परम्परा से काफ़ी हट कर है। हमारे यहाँ निर्गुण की जो मीमांसा उपनिषदों में की गई है, जो बौद्ध-जैन-श्रमण संस्कृति में पाई जाती है, जो योगवाशिष्ट्य में निर्दिष्ट की गई है, जो सूफ़ियों की साध्य रही है और जो नाथों-सिद्धों द्वारा व्यावहारिक स्तर पर व्याख्यायित की गई है, कबीर की विवेचना शत-प्रतिशत उनसे अनुगत होकर नहीं चलती है। सम्भवतः इसीलिए कि उन पर जितना गोरखनाथ का प्रभाव रहा है, उतना ही रामानंद का भी।

वस्तुतः इस द्विविधा का मुख्य कारण है– कबीर का मस्तमौलापन। वे मानते हैं कि परमात्मा का वर्णन किसी निश्चित मानदंड पर नहीं हो सकता। विश्व का अनुपमेय और अव्याख्येय तत्व है राम। जो निर्गुण-सगुणातीत है, वही बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है। वह केवल अनुभूतिगम्य है, स्वयं प्रकाश्य है, कथनीय तो कदापि नहीं। कबीर स्पष्ट कहते हैं –

जहाँ बोल तहाँ आखर आवा।
जहँ अबोल तहँ मनन रहावा।।

अर्थात उसके तत्व को जब कोई समझ नहीं सकता, तब लोग अपनी-अपनी सीमाओं में उसकी विवेचना करने लगते हैं। जैसे –

जस तूँ तस तोहिं कोई न जाना।
लोग कहइँ सब आनहिं आना।।

इसलिए कबीर ने अपने राम पर ही यह दायित्व डाल दिया है कि वे ही तत्वबोध का सही प्रबोध भक्तों को दें। इस प्रकार स्पष्ट है कि संत कबीर ने निर्गुण सिद्धांत को उभयदृष्टि से देखने की पहल की है। अस्तु उनके निर्गुण मत पर संतुलित दृष्टि से पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

3.5 कबीर की निर्गुण भक्ति के मूल उपादान

3.5.1 प्रेमाभक्ति

स्थूल दृष्टि से देखने पर कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक लगते हैं किंतु गहन स्तर पर वे सगुण ब्रह्म से भी जुड़े हुए हैं। मूलतः वे प्रेमाभक्ति के समर्थक रहे हैं। इसलिए विरहिणी के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करते हुए कबीर ने अपने प्रियतम परमात्मा के प्रति जो परम विरहासक्ति प्रदर्शित की है, वह सगुण भक्ति की मधुरोपासना से नितांत पृथक नहीं। शायद इसीलिए कबीर ने कहा था –

निरगुन सरगुन से परे, तहाँ हमारो ध्यान।

सच्ची भक्ति में विरोध का नहीं, अभेद का भाव रहता है। कबीर की घोषणा है कि –

जब ते आतम तत्व विचारा।
भा निखैर तबहिं सबहिन तैं, काम क्रोध जरि डारा।।

अर्थात सारा बुद्धि-भेद मिट गया है और सहज बुद्धि जाग्रत हो गई है। कबीर अपने दिव्य-अलौकिक प्रेम को अनिर्वचनीय कहते हैं –

अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाइ।

कबीर के प्रेम में एक निष्ठता और अनन्यता है। प्रिय नेत्रों में इस प्रकार रमा हुआ है कि उसमें काजल रेख के लिए भी स्थान नहीं है –

कबीर काजर रेख हू, अब तो दई न जाइ।
नैननि प्रीतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ।।

कबीर की इस प्रेमाभक्ति में निरंतरता, पूर्ण आत्मसमर्पण और निरहंकारता का अखंड साम्राज्य है। विरहवेदना की तीव्रता, विह्वलता की अतिशयता, अपने प्रिय ब्रह्म के लिए कबीर में वैसी ही है जैसे सगुण भक्तों और सूफ़ियों में –

आइ सकौं नहीं तोहिं पै सकौं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे बिरह तपाइ-तपाइ।।

प्रिय ब्रह्म के विरह में जीवन धारण करना भी अत्यंत दुष्कर है –

कबीर सुंदरि यौं कहै, सुणि हो कंत सुजाण।
वेगि मिलौ तुम आइ करि, नहिंतर तजौं पराण।।

मिलन की अधीरता भी भक्त जीवन में द्रष्टव्य है –

बहुत दिनन कैं बिछुरे माधौ, मन नहीं बाँधै धीर।
देह छवाँ तुम्ह मिलिहु कृपा करि, आरतवंत कबीर।।

विरह ही प्रेम की कसौटी है। उससे ही प्रेम का पोषण और परिवर्द्धन होता है। यही प्रियमिलन का कारक व साधक भी है। इसलिए कबीर विरह नहीं त्यागना चाहते और विरह भी कबीर को छोड़ने के लिए तैयार नहीं –

बिरहा कहै कबीर सों, तू जनि छाड़ै मोहिं।
पारब्रह्म के तेज में, तहाँ ले राखौं तोहि।।

दादू भी कबीर के उक्त भाव से सहमत दिखाई देते हैं –

विरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारे पीव।।

अंततः कहा जा सकता है कि कबीर की निर्गुण भक्ति, उनकी योगसाधना, उनकी प्रेमसाधना का ही एक अंग है। प्रेमाभक्ति कबीर की निर्गुण भक्ति का अभिन्न अंग है।

3.5.2 सहज साधना

'सहज' शब्द का व्युत्पत्तिक अर्थ है - 'सह जायते इति सहजः' - अर्थात जो साथ ही उत्पन्न होता है, वह सहज है। 'सहज' शब्द का प्रयोग नाथ-सिद्ध परम्परा से प्राप्त होता' है। गोरख 'सहज-रहना' के लिए उपदेश देते हैं। जहाँ सूर्य-चंद्र उदित हुए बिना ब्रह्म ज्योति का प्रकाश रहता है, उसी स्थिति में सहज ज्ञान का आनंद प्राप्त होता है –

जिहिं घरि चंद सूर नहीं ऊगै, तिहिं घरि होसि उजियारा

कबीर ने सिद्धों-नाथों का अनुसरण करते हुए भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्व प्रदान किया है। वे जब इसे परमात्म तत्व से जोड़ते हैं तो ज्ञान को विशेष महत्व देते हैं किंतु वस्तु के स्वभावगत गुण-दोष को भी समानरूपेण स्वीकार करते हैं –

अमिरत लै लै नीम सिंचाई, करत कबीर वाको सहज न आई।

कबीर की साधना में 'सहज' ज्ञान और प्रेम-दोनों का विषय है। 'सहज' परम प्रिय राम है, जो प्रेमरूप है, प्रत्येक घट में विद्यमान है जो उस 'सहज' से मिल जाता है, वह 'सहज' हो जाता है। कबीर का योग एक प्रकार से सहज योग ही है जिसके माध्यम से 'राम नाम सहजै ल्यौ लाई' सिद्ध कर लेते हैं। कबीर की दृष्टि में समस्त अहं-ममता त्याग कर एक ब्रह्म में मिल जाना 'सहज' है। यह 'सहज' का, कबीर का मौलिक प्रयोग है।

सहजता कबीर की निर्गुण भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है जो किसी विधि विधान का अनुगमन करने के लिए बाध्य नहीं –

साधो सहज समाधि भली।
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तो करूँ दंडवत ध्यावहु और न देवा।।'

कबीर की इस सहज-स्वाभाविक साधना से सामान्य जन प्रभावित हुआ। कबीर की सहज की अवधारणा इस प्रकार है –

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन सहजै विषया तजी सहज कही जै सोइ।।

X X X

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कही जै सोइ।।

कबीर के सहज में त्यागपूर्ण अहिंसा का भाव भी है –

कहै कबीर सुख सहज समाऊँ, आप न डरौं न और डराऊँ।

इसमें प्रेमतत्व तो समाविष्ट है ही, जिससे सम्बंध भाव विकसित होता है –

कहै कबीर यहु सहज हमारा, विरली सुहागिन कंत पियारा।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि कबीर की सहज साधना स्वभाविक गति से साधक को वैराग्य और भक्ति की ओर ले जाने का उपक्रम करती है।

3.5.3 रहस्य दर्शन

रहस्यवाद की यात्रा सिद्ध साहित्य से नाथ साहित्य होती हुई निर्गुण और निरंजन सम्प्रदाय में सम्पन्न होती है, पुनश्च आधुनिक काल तक आती है। सिद्धों, नाथों का रहस्यवाद किंचित अस्पष्ट है। उसके सुलझे और स्पष्ट रूप का दर्शन कबीर, दादू और जायसी आदि के काव्य में होता है।

रहस्य के मूल में अद्वैत भाव निहित है। परिणामतः साधनात्मक और भावात्मक रहस्यवाद की द्विधा स्थितियाँ दृष्टिगत होती हैं। साधनात्मक रहस्यवाद में जहाँ हठयोग प्रक्रिया की प्रधानता होती है, वहीं भावात्मक रहस्यवाद का आधार माधुर्यभाव मूलक प्रेम है।

स्थूलतः रहस्यवाद के तीन सोपान हैं। प्रथम सोपान में साधक अपने आराध्य के परिचय की प्रबल जिज्ञासा रखता हुआ उसकी प्राप्ति के लिए सब प्रकार का कष्ट सहन करने के लिए तत्पर है तथा उसकी विरह में तड़पता है। द्वितीय स्थिति में उसे उस तत्व का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है, तब वह विलक्षण आनंद की अनुभूति करता है। तृतीय अवस्था में साधक पूर्ण सिद्धावस्था प्राप्त कर अपने आराध्य ब्रह्म में लीन होने की स्थिति में आ जाता है। इसे जीवनमुक्ति का स्थिति भी कहते हैं। वह सिद्धावस्था को प्राप्त कर नीर-क्षीर की भाँति ब्रह्म से एकमेक हो जाता है। यही रहस्य भावना का अंतिम सोपान है। कबीर कहते हैं –

आतमलीन अखंडित रामा, कहै कबीर हरि माँहि समाना।

कबीर की बानियों में रहस्यवाद के तीनों सोपान पूर्ण मार्मिकता के साथ विद्यमान हैं। परमात्मा के संग विरह-मिलन के जितने रूपक और चित्र कबीर ने उकेरे हैं, वे अपनी संवेदना, व्याकुलता, व्यग्रता और पीड़ा में अद्भुत हैं। कबीर की विरहिणी आत्मा प्रिय का स्वप्नदर्शन करती है और स्वप्न टूट न जाय इसलिए आँख नहीं खोलती –

सुपने में साईं मिल्या, सोवत लिया जगाइ।
आँखिन खोलूँ डरपता, मति सपना ह्वै जाइ।

प्रिय के विरह में आत्मा तड़पती है –

तलफै बिन बालम मोर जिया।
मैं अबला पिउ पिउ करूँ, निरगुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिनु देखूँ और न जीव।।

उनकी दृष्टि में विरह 'सुल्तान' है –

बिरहा बुरहा मत कहै, बिरहा है सुल्तान

कबीर का आराध्य प्रिय भले ही निर्गुण है पर उनकी भक्ति का आधार प्रेम है। वे कहते हैं –

भाग बिना नहिं पाइए प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु भक्ति भर्‌यौ जब जक्त।

और अंततः जब शरीर रूपी कुम्भ फूट जाता है तो आत्मा-परमात्मा में लीन हो जाती है और यही रहस्यवाद का चरमोत्कर्ष है –

बूँद समानी समँद में, सो कत हेरी जाय।

मैं तैं, तैं मैं द्वै नाहीं, आपै अकल सकट घट माहीं।

इस प्रकार कबीर की भक्ति साधना में साधनात्मक और भावनात्मक-दोनों प्रकार की रहस्य शैलियों के दर्शन होते हैं। यह बात और है कि उनकी चित्तवृत्ति भावनात्मक रहस्य दशा में अधिक रमी है।

3.5.4 संत चेतना या सात्विक जीवन

इस निर्गुण पंथ से प्रेरित होकर कबीर ने रजस तमस भावों को छोड़कर सतोगुणी जीवनयापन पर जोर दिया। उन्होंने सचेत किया –

जो खाएगा चूपड़ी बहुत करेगा पाप

इसीलिए वे हर स्थिति परिस्थिति में संतुष्ट रहने का प्रबोधन भी देते हैं –

रुखा-सूखा खाइ के, ठंडा पानी पिउ।
देख पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीउ।।

आवश्यकता से अधिक भौतिक साधनों की कामना भी वे नहीं करते –

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।

इसी संतत्व से प्रेरित होकर कबीर ने अहिंसा, क्षमा, धैर्य, संतोष, सादगी आदि को चरितार्थ करने पर जोर दिया। इसी कारण उन्होंने पुराण, कुरान, काशी, काबा, व्रत-रोजा आदि का समन्वय किया और तिलक, माला, मंदिर-मस्जिद अर्थात बाह्याचारों से ऊपर उठने का संदेश दिया यथा –

मोकों कहाँ ढूंढे बंदे मैं तो तेरे पास रे।

कबीर ने सत्संग और चिंतन के माध्यम से जो आत्मज्ञान अर्जित किया, उससे ब्रह्मचिंतन को जनदर्शन में परिणत कर दिया। उनके समकालीन जीवन में जो विसंगतियाँ विद्यमान थीं, उन्हें भी झकझोरा और लोकोत्तर साधना का संदेश भी दिया, वे लोकवादी भी हैं और परलोकवादी भी। उनके कई पद, जैसे –

- रहना नहीं देस विराना है।
- मन फूला-फूला फिरै, जगत में कैसा नाता रे।
- मन रे जागत ही रहियो।
- मन लागा है मोर फकीरी माँ।।'

आदि एक ओर लोक संग्रह का संकेत करते हैं और दूसरी ओर नश्वर जीवन से पलायन का संदेश देते हैं।

संतत्व का लक्षण बताते हुए कबीर कहते हैं –

निर्बैरी निहकामता सांईं सेती नेह
विषया सो न्यारा रहै, संतनि का अंग एह

कबीर का संत अहंकार-अभिमान से नितांत परे होता है –

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं ह्वै रह्या, जूँ पाउँ तलि घास।।

वह संतोष और धैर्य से पूर्ण होता है तथा काम, क्रोध, तृष्णा से दूर रहकर प्रफुल्लित मन से गोविंद-गुणगान करता है –

-राम भजै सो जाणिए, जाकै आतुर नाहीं।
सत संतोष लीयैं रहै, धीरज मन माहीं।।
जन कौ काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिश्ना न जरावै।
प्रफुलित आनँद मैं गोब्यंद गुण गावैं।।

इस प्रकार आचारगत शुचिता, संतचेतना, सात्विक जीवन कबीर की भक्ति के प्रमुख उपादान हैं।

3.5.5 आचारगत सुधारवाद

कबीर ने निर्गुण मत से प्रेरित होकर समाज के सर्वहारा वर्ग को अपनी विकृतियों से ऊपर उठने का उपदेश दिया। उन्होंने समझाया कि किसी अलौकिक शक्ति के सहारे रहने के बजाय अपने आत्मबल को पहचानो –

गह बहियाँ बल आपनी, छोड़ बिरानी आस।

उन्होंने कहा कि प्रत्येक कार्य आस्थापूर्वक ही सम्भव होगा –

जिन खोजा तिन पाइयाँ

इसके लिए धैर्य की आवश्यकता होती है। कबीर कहते हैं–

धीरे-धीरे रे मना धीरे सब कुछ होय।

निरहंकार भाव से सच्चाई और ईमानदारी के साथ जीवन यापन करने का संदेश कबीर देते हैं –

सबसे लघुताई भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चंद्रमा, सीस नवै सब कोय।।

सगुण व नैतिक बल से व्यक्ति की मानसिक शक्ति विकसित होती है जिससे वह अपनी तमाम समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है।

इस मानसिकता तक पहुँचने के लिए क्षमा, परोपकार, स्वावलम्बन, सत्य, अहिंसा, करुणा आदि की आवश्यकता है और सर्वाधिक आवश्यकता है – कथनी-करनी में एका स्थापित करने की। कबीर स्पष्ट कहते हैं –

कथनी कथी तो का भया, जो करनी ना ठहराय।

इस प्रकार आचारगत सुधार को कबीर ने निर्गुण मत का प्रमुख प्रतिपाद्य बना दिया।

3.5.6 पाखंड-विखंडन

निर्गुण मत का प्रतिपादन करते हुए कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त आडम्बरों पर पूरी शक्ति के साथ प्रहार किया। उन्होंने सर्वाधिक खंडन मर्तिपूजा का किया। उनका तर्क था कि यदि पत्थर पूजने से परमात्मा मिल जाता है तो क्यों नहीं पूरे पहाड़ की पूजा की जाती है। अच्छा होगा कि घर की चक्की की पूजा की जाए जिसका पिसा सब खाते हैं।

कबीर ने छुआछूत और साम्प्रदायिक भेदभाव की भर्त्सना की है। उन्होंने कहा कि –

हिंदू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
बिसवा के पायन तर सोवैं, यह देखौ हिंदुआई।।

रोजा, रखने वालों पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कहा कि ये दिनभर रोजा रहते हैं और रात में गोहत्या करके मांस भक्षण करते हैं। यह स्वयं को 'पीर' कहते हैं किंतु 'पर पीर' नहीं जानते हैं। उनके शब्दों में –

कबिरा सोई पीर है जो जानै पर पीर।

उन्होंने कहा कोई हलाल का खाता है, कोई झटका मारता है; अंतर केवल बाह्याचार का है –

ई हलाल उइ झटका मारैं, आगि दुहू घर लागे।

तथा-

अरे इन दोउन राह ना पाई।

धर्म के नाम पर वेशभूषा बनाने वालों को भी कबीर ने फटकारा। वे कहते हैं - दाढ़ी रखाये मियाँ होइ गयो बकरा। और जप माला छापा तिलक सरै न एकौ काम।

तात्पर्य यह है कि संत कबीर ने धर्म के महंतों, मुल्ला - मौलवियों, पीरों, फकीरों -सबकी भर्त्सना करते हुए सबका निषेध किया। जनसाधारण को निर्गुण मत से जोड़ने के लिए मठाधीशों के वर्चस्व को तोड़ना आवश्यक था। इसी प्रतिपक्षी दर्शन के सहारे कबीर ने समाज का नेतृत्त्व किया।

3.5.7 मानवमात्र की एकता

कबीर ऊँच-नीच, अवर्ण-सवर्ण, जाति-पाँति, स्त्री-पुरुष का भेदभाव नहीं मानते। वे मानवतावादी संत हैं। उनकी दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा नहीं। केवल कर्म से उसका पद निर्धारित होता है –

जाति न पूछो साधु की पूछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान।।

मानवतावादी दृष्टि कबीर को सम्भवतः रामानंद से प्राप्त है, इसलिए वे समस्त जीवों में उसी एक ब्रह्म का प्रकाश देखते हैं –

'ऊँच नीच है मधिम बानी, एकै पवन एक है पानी,
एकै मटिया, एक कुम्हारा, एक सबन्हि कै सिरजनहारा।।

समता की जो भावना, मानव-एकता की जो प्रेरणा कबीर में साक्षात हुई है, उसमें लोकमंगल की साधना अनुस्यूत है। कबीर के हृदय से मार्मिक स्वर निकला कि योगी का गोरख, हिंदू का राम, मुसलमान का खुदा-सब एक ही परमतत्व के विभिन्न नाम हैं। हम सब भाई-भाई हैं। इस आह्वान का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि उनकी शिष्य परम्परा में

हिंदू-मुसलमान सभी दीक्षित हुए। समस्त मानव जाति की एकता का उद्घोष करते हुए वे कहते हैं –

हम तुम मांहै एकै लोहू, एकै प्रान जीवन है मोहू।
एक ही बास रहै दस मासा, सूतग पातग एकहि आसा।
एक ही जननी जन्यां संसारा, कौन ग्यॉन थैं भये निनारा।।

कबीर की समदृष्टि में स्त्री-पुरुष में भी अभेद है क्योंकि दोनों में उसी परमात्म सत्ता की स्थिति है –

जेती औरत मरदाँ कहियै, सब में रूप तुम्हारा।

कबीर ने पतिव्रता स्त्री की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है क्योंकि उसमें कबीर को सामाजिक शील के दर्शन होते हैं और आध्यात्म के स्तर पर उसका प्रेम जीवात्मा के प्रेम का प्रतीक है जो परमात्मा के सामीप्य के लिए आकुल रहता है। वे सती नारी को संत और सूरमा की श्रेणी में रखते हैं –

संत सती औ सूरमा, इन पटतर कोउ नाहिं।

कबीर ने मानव एकता और परमात्म प्रेम का जो स्वर मुखरित किया है, उसमें परवर्ती कवियों के लिए भी एक संदेश निहित था –

कहै कबीर एक राम जपहु रे भाई,
हिंदू तुरक न कोई।

निष्कर्षतः कबीर की भक्ति में मानवमात्र की एकता एक महत्वपूर्ण उपादान है।

3.5.8 लोकतत्व

निर्गुण मत में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक भेदभाव को नकार कर कुछ समतामूलक और शोषणरहित समाज के निर्माण की बात की और जन से सीधे बात की। इसलिए कबीर ने उन तक अपनी साधना पद्धति पहुँचाने के लिए लोक जीवन के रूपक अपनाए। उनके पदों में कहीं-कहीं सास बहू का दृष्टांत है, कहीं दूल्हा दुल्हन का और कहीं गांव की खेती-किसानी का। यौगिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए उन्होंने - 'संतो आई ज्ञान की आंधी रे' - में छप्पर का पूरा रूपक निर्मित किया है।

इसी प्रकार भक्त और भगवान के अद्वैत सम्बंधों को निरूपित करते हुए उन्होंने आत्मा-परमात्मा और माया का एक त्रिकोण निर्मित किया। उनकी विरहिणी आत्मा प्रिय मिलन की कल्पना मात्र से उल्लसित है। उसके विवाह की रूपक रचना करते हुए कबीर कहते हैं –

दुलहिनि गावहुं मंगलचार।
हमारे घर आए राजा राम भरतार ।।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्त बराती।
राम देव मोहिं ब्याहन आए मैं जोबन मद माती।।

इन उद्धरणों में एक ओर तत्कालीन लौकिक संस्कारों और सामाजिक प्रथाओं का विवरण है और दूसरी ओर आत्मा-परमात्मा तत्व के अद्वैत आदि का निरूपण भी।

अतः अनेक स्थलों पर कबीर बानी में सामान्य जीवन के लोकप्रिय प्रतीक और दृष्टांत प्रयुक्त हुए हैं – कुम्हार, जुलाहा, चाक, चरखा, माली, कलियाँ ढेकुली आदि लोक-जीवन के शब्द उनकी वाणी में अत्यंत सुलभ हैं। उपर्युक्त रूपक भी जनसाधारण के लिए सर्वथा सुगम थे। इसी को कबीर ने 'लबेद' (लोकवेद) कहा है और इसी के सहारे उन्होंने लोक आधारित दर्शन निर्मित किया।

3.5.9 मृत्युबोध

निर्गुण मत ने कबीर को निवृत्ति की ओर प्रेरित किया। फलतः मृत्यु की विभीषिका का वर्णन उन्होंने बहुधा किया-जीवन सेमर के फूल की तरह है; प्रभातकालीन नक्षत्र की तरह क्षणभंगुर है - दुनियाँ मुसाफिर खाना है ; इस मोह निशा में जहाँ एक रात बितानी है, हमारे संचित कर्मों की गठरी को कोई बटमार चुरा न ले जाए अर्थात् इंद्रियाँ विपथगामी न हो जाएँ, इसलिए सतत जागरूक रहना है आदि आदि।

मृत्यु की भयावहता की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि 'हर एक की चोटी मृत्यु के चंगुल में है।' उनका मानना है कि एक समय आता है, जब - '**झल उठी झोली उठी, खपरा फूटम फूटि**'। मृत्यु सर्वोपरि सत्य है। इस महाकाल को कबीर ने कहीं माली के रूपक से कहा है, कहीं शिकारी के बहाने।

मृत्युभय जाग्रत करने के पीछे मूल उद्देश्य यह रहा है कि हम नश्वर जीवन पर इतराएँ नहीं। इस संसार में सब कुछ निस्सार है। कबीर के शब्दों में - 'चारि जने मिलि खट उठायो, जग से नाता टूटल रे।'

कबीर स्वयं मृत्यु से निर्भीक हैं –

जिस मरनै ते जग डरै, सो मेरे मन आनंद।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमानंद।।

उनका मानना है कि जिस मृत्यु से संपूर्ण संसार डरता है उससे वे नहीं डरते बल्कि उनके मन में आनंद है क्योंकि मृत्योपरांत ही वे पूर्ण परमानंद से मिल पाएँगे।

3.5.10 श्रम की प्रतिष्ठा

संत कबीर श्रमिक साधुता के उन्नायक हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने किसानों, खेतिहर मजदूरों, जुलाहा, कुम्हार और कलाल जैसे कुशल श्रमिकों को विशेष रूप से सम्बोधित किया है। वे प्रत्येक गति-मति वाले व्यक्ति को उसकी कार्यशैली के अनुसार उसकी ही पारिभाषिक शब्दावली में परमतत्त्व का रहस्य समझाते हैं। जैसे - 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' - नामक प्रसिद्ध पद में वे एक ओर अष्टांग योग का रहस्य बताते हैं ; इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना का विश्लेषण करते हैं और दूसरी ओर उसे ताना-बाना भरनी से जोड़ते हैं। एक पद में कबीर ने राम रसायन तैयार करने की प्रक्रिया समझाई है। जिस प्रकार कलाल महुए को तेज आँच में तपाकर फिर उसके वाष्प से अर्क निकालता है उसी प्रकार साधना की आँच में भक्ति का यह द्रव निकाला जा सकता है –

मन भाठी तन माहुरा राम रसायन छीज।

कुम्हार कला का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा – जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी के ढेर को मन चाहे पात्र के रूप में परिणत कर लेता है, उसी प्रकार सद्गुरु एक से एक अनगढ़ शिष्य को अपना सुपात्र बना लेता है –

गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।
अंतर हाथ सहार दे, बाहर वाहै चोट ।।

वे कुम्हार को जगतनियंता का प्रतीक भी मानते हैं जिसने सब कच्चे-पक्के घट गढ़े हैं। सदगुरु को कबीर 'रंगरेज' भी कहते हैं –

सतगुर है रंगरेज चुनरि मोरी रंग डारी।

कबीर ने भक्ति और खेती-पानी का एक सांगरूपक तैयार किया। वे कहते हैं –

संतो खेती करो हरि नाम की

जब अपना मन सुरति की ढेकुली लगाकर अंतःकरण में सिंचित रस खींचता है और कँवल कुँआ में प्रेमरस का पान करने लगता है तब वही सच्ची भक्ति है –

सुरति ढेकुली लै जल्या, मन नित ढीलनहार।
कँवल कुवाँ में प्रेमरस पीवै बारम्बार।।

साथ ही - '**राम रस पीजै जुगति बनाय**' - रूपक द्वारा कबीर ने एक ओर भक्ति रस की ओर संकेत किया है और दूसरी ओर योग साधना के माध्यम से प्राप्त होने वाले रसब्रह्म का। उनकी यह आत्मप्रतीति है - 'रस गगन गुहा में अमित झरै' - दरअसल यही कबीर का असली रूप है।

कबीर यह भी कहते हैं कि मनुष्य की सारी जीवन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की सतर्कता पर निर्भर है। जैसे सावधानी चूकने पर वन्य पशु किसान की हरी-भरी खेती चर जाते हैं, वैसे ही कुछ क्षणों का प्रमाद संत की सारी साधना को नष्ट कर देता है। कबीर ने मृग का रूपक बनाते हुए कहा - 'जनन बिन मिरगा खेत नसावै' - यहाँ मृग प्रतीक है चंचल इंद्रियों का। निर्गुण भक्तों का यह मत रहा कि विषय विकारों और उनकी प्रेरक इंद्रियों का दमन कठोर इंद्रिय निग्रह के द्वारा करना चाहिए। वस्तुतः यह सिद्धांत उन्होंने नाथपंथियों की हठयोग साधना पद्धति से अपनाया था।

यह उल्लेखनीय है कि कबीर ने एक ओर सहज साधना की बात की है और दूसरी ओर काया कमंडल में इस हठयोग को आत्मसात, करने का संदेश भी दिया है। इस प्रकार की साधना द्वारा कबीर ने श्रमिकों को सिद्ध साधकों के आसन पर बिठा दिया।

कबीर की इस निर्गुण भक्ति की एक बहुत बड़ी देन यह है कि इसके सहारे उन्होंने उत्तर भारत के दलित समाज को हीनता ग्रंथि से मुक्त होने का मार्ग दिखाया। उन्होंने पुरोहितवाद को खुली चुनौती दी। यदि मंदिरों में इस वर्ग को प्रवेश नहीं दिया गया तो उन्होंने मठाधीशों और सामंतों के समक्ष गिड़गिड़ाने के स्थान पर अपने अलग चौरे स्थापित कर लिए। स्वामी रामानंद ने जो अभियान चलाया था –

जात पाँत पूछै नहिं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई।

उस दिशा में कबीर का यह निर्गुण मत बहुत कारगर सिद्ध हुआ। यही उसकी ऐतिहासिक उपलब्धि है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि प्रेमाभक्ति, सहज साधना, रहस्य, दर्शन, संतचेतना, आचारगत सुधारवाद, मानवमात्र की एकता, लोकतत्व, मृत्युबोध, श्रम की प्रतिष्ठा आदि कबीर की निर्गुण भक्ति के मूल उपादान हैं।

3.6 अन्यान्य साधना पद्धतियाँ और कबीर का निर्गुण मत

कबीर के पूर्ववर्ती और समकालीन जो सम्प्रदाय उत्तर भारत में प्रचलित थे, उनमें प्रमुख हैं – सिद्ध सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय, शाक्तमत, वैष्णव और सूफ़ी सम्प्रदाय। कबीर ने इनसे यथाप्रसंग काफ़ी कुछ ग्रहण किया और बहुतों का निषेध भी किया है। यह सुविदित है कि सिद्धों की तांत्रिक प्रक्रिया से कबीर सहमत नहीं थे। उन्होंने वामाचार का खंडन किया, उनकी अघोरपंथी साधना, महाभैरवी उपासना और अलौकिक कृत्यों की किसी रूप में

उन्होंने सराहना नहीं की किंतु उनकी यौगिक प्रक्रिया का यदा-कदा अनुसरण कबीर ने अवश्य किया। यद्यपि यह योगदर्शन सिद्धों के साथ-साथ नाथों से भी सम्बद्ध रहा है और यह सर्वस्वीकार्य है कि कबीर पर गोरखनाथ का गहरा प्रभाव पड़ा था। गोरखनाथ आचारगत शुचिता के समर्थक थे, कठोर आत्मसंयम के पक्षधर थे और मन, वचन, कर्म की शुद्धता के लिए हठयोग के प्रवर्तक भी थे। कबीर उनके सिद्धांतों से काफी सहमत दिखाई देते हैं। जाति, सम्प्रदाय, पौराणिक अंधविश्वास और पाखंड-विखंडन आदि में कबीर मुख्यतः गोरख के ही प्रभावों से प्रेरित दिखाई देते हैं। कबीर के बहुत पहले समाज सुधार की यह पहल गोरखनाथ ने की थी। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम, सवर्ण, अवर्ण सबको अपने अभियान से जोड़ दिया था। हिंदू साधक को योगी और मुस्लिम साधक को जोगी-जोगीड़ा नाम दिया था। यद्यपि घर-परिवार छोड़कर अलख निरंजन की पुकार लगाते हुए भ्रमण करते रहने की योग साधना कबीर को अभीष्ट नहीं थी। वे मानते थे कि नित्य कर्म करते हुए सहज रूप में ही इस योग प्रक्रिया को चरितार्थ किया जा सकता है। इस प्रकार नाथों के प्रति भी सहमति-असहमति दोनों प्रकार के स्वर कबीर में मिलते हैं।

शाक्त दर्शन के वे पूरी तरह विरुद्ध थे। उन्होंने स्पष्ट रूपेण घोषित किया है –

बैस्नौ की छपरी भली, नाँ साखत का बड़गाँउँ।

अर्थात एक ओर शाक्त के नाम पर गाँव भर की जायदाद मिल रही हो और दूसरी ओर वैष्णवों की झोंपड़ी तो कबीर वैष्णव-छपरी को अधिक पसंद करते हैं। इसलिए कि शाक्त मत हिंसा और भोग का समर्थक रहा है और वैष्णव मत जीव-दया, माया, ममता, परोपकार आदि का।

वैष्णवों में स्वामी रामानंद ने जाति पाँति का निषेध करते हुए समूचे भक्ति आंदोलन में पहली बार जो दस शिष्य बनाए थे, उनमें अल्पसंख्यक भी थे, स्त्रियाँ भी थीं और दलित भी थे। यह सर्वाधिक क्रांतिकारी किंतु रचनाधर्मी आंदोलन था इसलिए कबीर पर इसका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। यद्यपि अपनी प्रकृति और परिस्थिति के कारण उनकी वाणी में तल्ख़ी, कर्कशता या अप्रियता ज्यादा भर गई। उसमें विधेयात्मकता की अपेक्षा ध्वंसात्मक स्वर अधिक प्रधान हो गया फिर भी उसमें व्याप्त लोकमंगल का तत्व चिरस्मरणीय है।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त कबीर ने सूफ़ी मत के कई महत्वपूर्ण तत्वों को आत्मसात किया। वे निरंतर यह मानते रहे हैं कि यह संसार प्रेम का घर है किंतु इसमें प्रवेश करने का अधिकारी वही है जो - सीस उतारै, भुइँ धरै'।

कबीर अपनी साखियों में निहकर्मी पतिव्रता और विरहिणी आत्मा का बारम्बार उल्लेख करते हैं। अपने प्रियतम के प्रति सम्पूर्ण निष्ठा, परमविरहासक्ति और पूर्ण तन्मयता उनकी साधना का मूलाधार रहा है –

नैनां अंतरि आव तूँ नैन झाँपि तोहिं लेउँ।
ना हौं देखैं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ।।

प्रेमविरह कबीर की साधना का सर्वोच्च तत्व है। 'प्रेम विरह कौ अंग' में ऐसी दर्जनों साखियाँ हैं जिसमें कबीर ने साधक को सर्वस्व समर्पण का संदेश दिया –

आँषड़ियाँ झांई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि-पुकारि।।

इससे स्पष्ट है कि सूफ़ियों की विरह साधना और वैष्णवों की रागानुगाभक्ति कबीर को प्रिय थी। वैष्णवों से प्रेरित होकर उन्होंने गुरु भक्ति को भी यथेष्ट प्रश्रय दिया है। उनके मतानुसार तो गुरु गोविंद से बड़ा है।

कबीर का रहस्यदर्शन मूलरूप से योग और नाथ परम्परा से प्रेरित प्रतीत होता है। इसकी पृष्ठभूमि औपनिषदिक दर्शन और बौद्धदर्शन में भी दिखाई देती है। भारतीय रहस्यवाद के अनुसार यह विश्वप्रपंच सर्वथा दुर्बोध है। सम्पूर्ण मीमांसा के बाद अंततः 'नेति-नेति' ही कहना पड़ता है। कबीर भी कहते हैं - **तासों चुप ह्वै रहिए** - वह केवल अनुभवगम्य है –

पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्त अनूप

इस पर वहाँ माया का आधिपत्य है। उसके सहारे परमात्मा मनुष्य को भ्रमित कर देता है–

कौनौ ठगवा नगरिया लूटल रे

आवश्यकता यह है कि उस मायापति को पूर्ण मनोभाव के साथ समर्पित हो जाएँ तब वह रहस्य के द्वार खोल देगा। कबीर ने अपनी उलटबाँसियों के द्वारा इस रहस्य साधना को सुलझाने का प्रयास किया है। उनकी उलटबाँसियों में ऐसी गूढ़ार्थता है कि मात्र पुस्तक-ज्ञान के आधार पर उनका रहस्योद्घाटन नहीं किया जा सकता। इसलिए कबीर ललकारते हुए कहते हैं –

तूँ बाम्हन मैं कासी का जुलाहा, बूझौ मोर गियानां

वे दिग्विजयी की तरह कहते हैं –

सकल देस के पंडिता रहैं बिचारि-बिचारि

उनकी उलटबाँसियों के बिम्ब बड़े विचित्र हैं –

समुंदर लागी आगि, पानी जल कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखा चढ़ि गईं।

यहाँ समुंदर है भवसागर, वहाँ मृत्यु की आग धधक रही है। पानी अर्थात जीवनतत्व जलकर भस्म हुआ जा रहा है। जागृत आत्मा इसे देखकर जब ऊर्ध्व संचरण करती है, चेतना के शिखर पर पहुँच जाती है, तब इस मृत्यु-ज्वाल से बच जाती है।

ऐसी सैकड़ों उलटबाँसियाँ नाथों से प्रेरित होकर कबीर ने रची है। इसकी पृष्ठभूमि में सिद्धों का चर्यागीत भी रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर ने अपने पूर्ववर्ती, समवर्ती सम्प्रदायों से बहुत कुछ ग्रहण किया है किंतु त्याग और ग्रहण के विवेक के साथ। अतएव इनकी (कबीर की) मौलिकता सर्वथा सुरक्षित रही है।

3.7 सारांश

उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि :

1) निर्गुण भाव वैदिक काल में मौजूद था।

2) भक्ति आंदोलन ने निर्गुण-सगुण दोनों को युगपत स्वीकार किया है।

3) इसकी पहल सिद्धों, नाथों, योगमार्गी साधकों, सूफ़ियों और संतों ने की थी।

4) वैष्णवों ने निर्गुण-सगुण के समन्वय का यथाशक्ति प्रयास किया था।

5) कबीर ने वैष्णवों, नाथ, सूफ़ी–इन सबके सम्मिलित प्रभाव के आधार पर अपना एक मत स्थिर किया था। उनके अनुसार मंदिर-प्रवेश और मूर्तिपूजा से वंचित दलितों और पिछड़े वर्गों के भक्तों के लिए निर्गुण साधना ही सर्वश्रेष्ठ थी।

6) निर्गुण मत के माध्यम से कबीर ने समाज सुधार और आत्मसुधार का अभियान चलाया।

7) अपने इस भक्ति दर्शन द्वारा उन्होंने शास्त्र के बजाय 'अनभै साँच' और लोक मत को स्थापित किया। साथ ही लोक को शास्त्र मत के रूप में स्थापित कर दिया।

8) कबीर ने निर्गुण के नाम पर जनभाषा, जनदर्शन का एक जन अभियान चलाया। उन्होंने इसको रहस्य गुंफित करके संधा भाषा और उलटबाँसियों के सहारे इतना गूढ़ार्थपरक बना दिया कि वह उपेक्षणीय न होकर स्पर्धा का विषय भी हो गया।

9) कबीर की यह निर्गुण भक्ति न पुस्तकीय ज्ञान पर ही आधारित है और न श्रुत परम्परा पर ही। अपितु उसमें आत्मानुभूति की प्रबलता है।

3.8 अभ्यास प्रश्न

1. निर्गुण मत/भक्ति से क्या आशय है?
2. निर्गुण और सगुण भक्ति में मूल तात्विक अंतर क्या है?
3. निर्गुण भक्ति की कबीर-पूर्ववर्ती परम्परा का उल्लेख कीजिए।
4. कबीर की निर्गुण भक्ति किन-किन सम्प्रदायों से प्रभावित अथवा प्रतिक्रिया प्रेरित है?
5. कबीर की निर्गुण भक्ति के मूल उपादान क्या-क्या हैं?
6. कबीर की निर्गुण भक्ति की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 4 गोरखनाथ, कबीर और तुलसीदास

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नाथपंथ और गोरखनाथ

4.3 गोरखनाथ का व्यक्तित्व और कृतित्व

4.4 गोरखनाथ की साधना-पद्धति : हठयोग साधना

4.5 कबीर पर गोरखनाथ का प्रभाव और कबीर की सहज साधना

4.6 कबीर एवं तुलसी की सामाजिक-धार्मिक अवधारणा

- 4.6.1 भारतीय वर्ण-व्यवस्था
- 4.6.2 जाति-पाँति, छुआछूत एवं ऊँच-नीच
- 4.6.3 सामाजिक-धार्मिक पाखंड एवं अंधविश्वास
- 4.6.4 अवतारवाद
- 4.6.5 पुनर्जन्म, कर्मफल एवं भाग्यवाद

4.7 सारांश

4.8 अभ्यास प्रश्न

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आपः

- नाथपंथ और गोरखनाथ के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से परिचित हो सकेंगे;
- कबीर पर गोरखनाथ के प्रभाव की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- कबीर के कृतित्व की निजी विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे;
- भारतीय सहज-साधना के साथ ही कबीर की सहज-साधना से परिचित हो सकेंगे;
- सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से कबीर एवं तुलसी के अंतर को समझ सकेंगे;
- अपने युगीन संदर्भ में कबीर और तुलसी के सामाजिक प्रतिनिधित्व की मूल प्रकृति को हृदयंगम कर सकेंगे; और
- भक्तिकालीन काव्यधारा में कबीर और तुलसीदास के महत्व को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इससे पूर्व आपने कबीर के जीवन, साहित्य उनके युग एवं निर्गुण भक्ति की परम्परा में कबीर के महत्व से सम्बद्ध जानकारी प्राप्त कर ली है। प्रस्तुत इकाई में आपको कबीर के पूर्ववर्ती साधक गोरखनाथ के महत्व और कबीर पर उनके प्रभाव की जानकारी दी जाएगी। इसके साथ ही इसी इकाई में भक्ति आंदोलन के दो प्रमुख भक्त कवियों—कबीर एवं तुलसी के सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

4.2 नाथपंथ और गोरखनाथ

मध्यकालीन धर्मसाधना के विकास की स्थिति को देखते हुए ऐसा लगता है कि सिद्धों की परम्परा से ही नाथपंथ का विकास हुआ है। इस सम्बंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत है कि ''सब बातों पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परम्परा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। .... पंजाब का जालंधर शहर उन्हीं की स्मारक जान पड़ता है। ....नाथपंथ सिद्धों की परम्परा से ही छँटकर निकला है, जिसमें कोई शक नहीं।''

चौरासी सिद्धों की सूची में अधिकांश नाथों का भी नाम सम्मिलित किया गया है इससे यही संकेत मिलता है कि सिद्धों से इनका गहरा संबंध था। वैसे नाथों की संख्या नौ मानी गई है, जिनमें आदिनाथ या जलंधरनाथ के साथ ही मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ), गोरखनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ आदि प्रमुख हैं।

नाथों की बाह्य वेशभूषा को प्रतीकात्मक महत्व प्राप्त है। नाथ योगी जटा और दाढ़ी रखते हैं, गैरिक वस्त्र या कोपीन धारण करते हैं। दोनों कानों में स्फटिक (विशेष प्रकार का पत्थर) की बड़ी-बड़ी मुद्राएँ या कुंडल धारण करते हैं। यह मुद्रा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का विधान करने वाली होती है, जिसे देखकर देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भयभीत होकर भाग जाते हैं। जिस छुरी से कानों को फाड़कर मुद्रा पहनाई जाती है, उसका भी विशेष महत्व है। उसके महत्व ज्ञापन के लिए नाथपंथ द्वारा 'सुरिकोपनिषध' की रचना की गई है। इसके एक बार स्पर्श से मनुष्य योगी होकर जीवन-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। मुद्रा के साथ ही योगी दो-तीन अंगुल की काली सींग की छोटी सी सीटी गले में धारण करते हैं, जिसे श्रृंगी कहते हैं। इसे सेली नामक काले ऊनी धागों से गूँथ दिया जाता है। इसका सम्बंध 'अनहद नाद' से जोड़ा गया है। शरीर पर भभूत और मस्तक पर लालचंदन का त्रिपुंड भी नाथ योगियों की पहचान का प्रमुख चिह्न है। इससे स्पष्ट है कि योगियों के अधिकांश चिह्न आध्यात्मिक वृत्तियों के प्रतीक है। लेकिन योग के पारंगत गुरु के रूप में अवधूत के लिए उपर्युक्त बाह्याचार आवश्यक नहीं थे। 'गोरख सिद्धांत संग्रह' में स्पष्ट विधान है कि अवधूत 'कहीं भोगी होकर, कहीं त्यागी होकर, कहीं नग्न रहकर कहीं विशेष सा बनकर कहीं राजा होकर, कहीं आचारपरायण बनकर सर्वमय होता हुआ भी सर्वविवर्जित रह सकता है।' इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने अपने 'वैराग्य शतक' में लिखा है, 'इस अवधूत के मन की बाह्य क्रियाएँ प्रशमित हो गई हैं। वह न दुःख को दुःख समझता है, न सुख को सुख। वह कहीं भूमि पर सो सकता है, कहीं पलंग पर, कहीं कँथा धारण कर लेता है, कहीं दिव्यवसन कभी शाकाहार पर ही दिन गुजार लेता है और कभी मधुर भोजन मिलने पर उसे खा लेता है।'' कबीर ने नाथपंथ की साधना को महत्वपूर्ण माना परंतु उनकी वेशभूषा बाह्याडम्बर और आचार व्यवहार को स्वीकृति नहीं दी।

4.3 गोरखनाथ का व्यक्तित्व और कृतित्व

गोरखनाथ सिद्ध परम्परा के बाद और कबीर से पहले उत्तर भारत के एक महान पंडित, संस्कृतज्ञ, भारतीय धर्म-दर्शन के अध्येता और भारतीय समाज के अंतर्विरोधों की सही परख रखने वाले एक प्रकांड चिंतक थे। ऐसा संकेत मिलता है कि गोरखनाथ पहले बौद्धधर्म में दीक्षित साधक थे। बाद में वे नाथपंथ में आए। नाथपंथ को उन्होंने व्यवस्थित एवं व्यापक रूप प्रदान किया। इस प्रक्रिया में बौद्ध मत का कुछ प्रभाव भी नाथपंथ के साथ जुड़ गया। आदिनाथ के रूप में शिव ही इस पंथ के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। अतः नाथ शब्द, इस पंथ में शिव और शिवोपासकों के लिए रूढ़ हो गया है।

गोरखनाथ के नाम से लगभग चालीस रचनाएँ मिलती हैं, लेकिन इस तथ्य की प्रामाणिकता में संदेह है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने, इनमें से केवल चौदह को प्रामाणिक माना है, जिनमें पद, सबदी, नरवै बोध, आतमबोध, मछीन्द्र-गोरख बोध, ज्ञान तिलक, पंचनामा आदि मुख्य हैं। डॉ. बड़थ्वाल ने 'गोरख बानी' के नाम से गोरखनाथ की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित करवाया है, जिनमें प्रामाणिकता के अभाव में भी नाथ सम्प्रदाय की सभी प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है।

'जाग मछंदर गोरख आया' जैसे कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि गोरखनाथ अपने गुरु को भी चुनौती देने और सावधान करने से नहीं चूकते। गोरखनाथ के समय के विषय में काफी मतभेद है। लेकिन अपने को गोरखनाथ की शिष्य परम्परा में मानने वाले महाराष्ट्री भक्त ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि गोरखनाथ का समय ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी रहा होगा। गोरखनाथ की तीसरी पीढ़ी के शिष्य निवृत्तिनाथ माने गए हैं और उनके शिष्य ज्ञाननाथ थे। अतएव शंकराचार्य (आठवीं शती) के बाद और भक्ति आंदोलन के पूर्व सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ का ही था। भक्ति आंदोलन से पूर्व का सबसे शक्तिशाली आंदोलन भी नाथपंथ का ही आंदोलन था। इस पंथ का किंचित प्रभाव सूफ़ी पंथ के साथ ही अन्यान्य पंथों पर देखा जा सकता है।

4.4 गोरखनाथ की साधना-पद्धतिः हठयोग-साधना

भारत के योग की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। एक निरीश्वरवादी परम्परा के रूप में सन ईसवी के आरम्भिक काल में पतंजलि ने अपने 'योग वाशिष्ट' नामक ग्रंथ में इसे दर्शन का रूप देकर व्यवस्थित किया। चित्तवृत्ति निरोधक के रूप में इसका प्रयोग बराबर होता रहा। लगभग एक हजार वर्ष बाद गोरखनाथ ने हठयोग के रूप में इसे लोक जीवन के लिए सुलभ बनाया। इसके अंतर्गत गुरु की महिमा, नाड़ी साधना की बारीकियों, शून्यावस्था की परिकल्पना ब्रह्मानंद की स्थापना आदि पर गंभीरता से विचार किया गया है। इसके साथ ही नारी संसर्ग का परित्याग कर ब्रह्मचर्य के माध्यम से जीवन की शुद्धता द्वारा सिद्धों की परम्परा का परिष्कार भी इसमें सम्पन्न किया गया।

हठयोग की साधना वस्तुतः कुंडलिनी को जाग्रत करने की साधना है। इसके अंतर्गत योगी को प्राण-वायु का विरोधकर इड़ा-पिंगला नाड़ियों को सुषुम्ना नाड़ी की सहायता से कुंडलिनी तक पहुँचाना पड़ता है। कुंडलिनी शरीर के पृष्ठ भाग में स्थित रीढ़ की हड्डी के निचले और अंतिम हिस्से में स्थित होती है। योगियों की मान्यता के अनुसार यह साढ़े तीन वलयों में लिपटी सर्पिणी की भाँति सुषुप्त अवस्था में रहती है। इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के सहयोग से यह जागृत होकर ऊर्ध्वमुखी होने के बाद शरीरस्थ विभिन्न चक्रों को जागृत करते हुए, सहस्रार चक्र में पहुँच शून्यावस्था को प्राप्त कर परमानंद का अनुभव कराती है। साधकों ने इसे ही दशम द्वार माना है। यहाँ पहुँच कर साधक दुनिया की मोह-माया से मुक्त होकर मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।

हठयोग साधना की प्रक्रिया का परिचय देते हुए गोरखनाथ ने बहुत सी बातें कही हैं। इसमें गुरु की महत्ता को सर्वोपरि माना गया है। सदगुरु की सहायता के बिना योगी सिद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता। इसके साथ ही 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली भी उड़ाई गई है। इसके बोझ से दबे लोगों को 'भारवाही गर्दभ' की संज्ञा दी गई है। इसके साथ ही इस ग्रंथ में स्मार्त हिंदू धर्म की विशुद्धता और उसकी आचार बहुलता का विस्तार से खंडन किया गया है।

गोरखनाथ द्वारा निरूपित हठयोग साधना को समझने के लिए शरीर में कुंडलिनी की स्थिति और स्वरूप को समझना आवश्यक है। पीठ में स्थित मेरुदंड या रीढ़ की हड्डी जहाँ सीधे जाकर उपस्थ के मध्यभाग में लगती है वहाँ त्रिकोण रूप में एक स्वयंभू लिंग होता है, जिसे अग्निचक्र कहते हैं। यहाँ स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन फेरों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुंडलिनी स्थित होती है। इसके ऊपर चार पल्लवों वाला एक कमल होता है, जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र होता है, जिसका आकार छः दलों के कमल जैसा होता है। इस चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र होता है, जो दस दलों (पल्लवों) का होता है। इसके ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र होता है जिसके बारह दल होते हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है, जिसका आकार सोलह दलों से युक्त कमल होता है। इससे और ऊपर जाने पर दोनों भवों के मध्य में आज्ञा नामक चक्र होता है, जिसके सिर्फ दो ही दल होते हैं। इन षट्चक्रों के भेदन के बाद मस्तक में स्थित शून्य चक्र मिलता है, जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान को सहस्रदल कमल की संज्ञा दी गई है, योगियों के यहाँ इसी को सहस्रार चक्र या कैलास भी कहा गया है।

इस प्रकार गोरखनाथ ने हठयोग साधना के लिए अनिवार्य सभी विषयों और स्थितियों का प्रतिपादन किया है। इसके साथ ही योगियों के लिए उपदेश, नीतिपरक बातें, परम्परागत मर्यादा से मुक्त सामाजिक आचार-व्यवहार पर इन्होंने विचार किया है। लौकिक विषयों से मन को हटाकर अंतःसाधना पर बल देते हुए वैराग्य को हठयोग-साधना का प्रथम सोपान माना गया है। प्रस्तुत संदर्भ में यह ध्यान रखना जरूरी है यहाँ गोरखनाथ की वैचारिकता के कतिपय पहलुओं को छोड़ना पड़ा है, क्योंकि हमारा उद्देश्य कबीर पर इनके प्रभाव को ही रेखांकित करना है। आगे हम इसी विषय पर विस्तार से विचार करेंगे।

4.5 कबीर पर गोरखनाथ का प्रभाव और कबीर की सहज साधना

अपने निश्चित सरोकार के साथ ही कबीर का अनुभव जगत बहुत ही विस्तृत था। वे एक द्रष्टा, चिंतक एवं युग प्रवर्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं। बावजूद इसके उनकी एक पूर्व परम्परा रही है। सातवीं शताब्दी से आरंभ होने वाला समूचा सिद्ध साहित्य स्मार्त हिंदू धर्म और उसकी परम्पराबद्ध सामाजिक वैचारिकता के विरुद्ध ही अस्तित्व में आया। इस प्रकार का विरोध भाव कबीर का महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु माना जा सकता है। जिस तरह निर्गुण पंथ ने जुलाहा, धुनिया, चमार (मध्ययुग के संदर्भ में विशेष) नाई आदि निम्न जातीय किसान, छोटे-मोटे व्यापारियों को अपने साथ जोड़ा; उसी प्रकार मछुआरे, धोबी, डोम, कहार, दर्जी, लकड़हारे आदि दलित जातियों के लोग चौरासी सिद्धों में समाविष्ट हैं। महाराष्ट्र के भक्त नामदेव दर्जी थे, जिन्हें कबीर ने आदर के साथ स्मरण किया है। नाथपंथ और विशेष रूप से गोरखनाथ की हठयोग साधना और 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' का स्पष्ट प्रभाव उन पर दिखाई देता है। कहीं भी गोरखनाथ कबीर की डाँट-फटकार के पात्र नहीं बने हैं। इसके विपरीत कबीर गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचंद के साथ अपनी गणना का सगर्व उल्लेख इस प्रकार करते हैं –

गोरा भरथरि गोपीचंदा। ता मन सो मिलि करै अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा। ता मन सो मिलि रहा कबीरा।।

उपर्युक्त तीनों ही नाथपंथ के साधक रहे थे। बंगाल के राजा गोपीचंद की माता मैनावती, गोरखनाथ या मत्स्येंद्रनाथ की शिष्या बताई गई हैं। अतः गोरखनाथ के प्रत्यक्ष और परोक्ष-दोनों प्रकार के प्रभाव कबीर में देखे जा सकते हैं। गोरखनाथ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि हठयोग और कुंडलिनी साधना है। कबीरदास कोई सिद्धांत निरूपण के या लक्षण-

ग्रंथकार नहीं थे कि वे हठयोग साधनाओं का पूरा ब्यौरा देते। लेकिन उनके काव्य में हठयोग की कुछ प्रक्रिया, विशेष रूप से शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है, जिससे योग के प्रति उनकी रुचि का पता चल जाता है। इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियों के उल्लेख के साथ, आठ कमल-दल, चर्खा गगनमंडल (सहस्रार चक्र के रूप में), षट्चक्र भेदन, शृंगीनाद, बिंदु, शून्यमंडल, झोली, विभूति, बरवा, अनहदवेन, (ध्वनि) अवधू, निरंजन, अलख, खसम आदि शब्दों को कबीर ने नाथपंथी गोरखनाथ से ग्रहण किए हैं। इसके लिए कुछ उदाहरण हैं –

1. झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
इड़ा-पिंगला ताना भरनी सुसमन तार से बीनी चदरिया।

आठ कमल दल चरखा डोले, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया।

X X X X

यह चादर सुर नर मुनि ओढ़े ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन करि ओढ़े ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया।।

2. अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर-गगन-समाना सुषमन यों तन लागी।
काम-क्रोध दोऊ पलीता तहाँ जोगिणी जागी।।
मनबाँ जाइ दरीबे बैठा मगन भयारस लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा।।

3. अवधू, मेरा मन मतवारा,
उन्मनि चढ़्या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ग्यान ध्यान करि महुवा पीवै पीवनहारा।।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कबीर ने योग साधना का अत्यंत मौलिक ढंग से उपयोग किया है। पहले उदाहरण में कपड़ा बुनने और उसके उपयोग की प्रक्रिया तथा तीसरे उदाहरण में शराब बनाने और उसके पान करने के आनंद के माध्यम से उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। यह शराब, ज्ञान रूपी गुड़ और ध्यान रूपी महुए को भव की भट्ठी में तपाकर निकाली गई है। इसी तरह सूर्य, चंद्र, गंगा-यमुना-सरस्वती आदि शब्दों को योगपरक अर्थ में प्रयोग कर योग के प्रति उन्होंने अपने लगाव का संकेत भी दिया है।

यहाँ इस तथ्य को भी ध्यान में रखना जरूरी है कि नाथपंथी योगियों ने योग को प्रायः साध्य के रूप में स्वीकार किया है, जो सहजानंद और मोक्षदाता है। लेकिन कबीर ने योग को मनःशुद्धि और चित्तवृत्ति के विरोध का साधन मात्र स्वीकार किया है। मोक्ष के लिए उन्होंने प्रेमाभक्ति की अनिवार्यता को रेखांकित किया है। इसके साथ ही साधारण भक्तों के लिए उन्होंने योगमार्ग कठिन साधना को अनावश्यक भी बताया है। इसके लिए इकाई सं. 2 में दिए गए 'मन ना रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा' उदाहरण को आप एक बार फिर से देख सकते हैं। सिद्धों की सहज साधना और गोरखपंथियों की सहज समाधि से भिन्न कबीर ने एक नए रूप में सहज साधना और सहज समाधि की परिकल्पना की है। इसकी घोषणा करते हुए उन्होंने कहा है :

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से उपजी दिन दिन अधिक चली।।

जहाँ जहँ डोलौ सो परिकरमा जो कछु करौ सो सेवा।
जब सोवौ तब करौ दंडवत पूजो और न देवा।।
कहो सो नाम सुनो से सुमिरन खाव-पियौ से पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखो भाव न राखो दूजा।।
आँख न मूदो कान न रूँधो तनिक कष्ट नहिं धारो।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारो।।
सबद निरंतर से मन लागा, मलिन बासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी।।
कहत कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि भाई।
दुख सुख से कोई परे परम पद तेहि पद रही समाई।।

यही कबीर की सहज समाधि है। शुद्ध मन से चलना-फिरना और अपने सभी कार्य सम्पन्न करना भगवान की सेवा बन जाता है। सोना-जागना, उठना-बैठना, कहना-सुनना सब नाम स्मरण हैं। खाना-पीना सब पूजा है। आँख मूदने और कानों को बंद करने का कष्ट बेकार है। खुले नेत्रों से भगवान के सुंदर रूप का दर्शन करना चाहिए। वीतराग भाव (उनमुनि रहनी) और सुख-दुख से परे रहकर परमपद की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार कबीरदास ने निष्काम भाव से मनुष्य द्वारा सम्पादित सम्पूर्ण क्रियाओं को सहज साधना या सहज समाधि के अंदर स्वीकार कर भक्ति को सबके लिए सुगम बना दिया है।

यहाँ गोरखनाथ के नाथपंथ और कबीर की साधना के सम्बंध में एक तथ्य की ओर इशारा करना आवश्यक है। गोरखपंथ की क्लिष्टता और उसकी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर उस समय इसे निंदित करने के लिए 'गोरखधंधा' शब्द का प्रयोग मिलता है। गोरखपंथी योगी कहे जाते थे अतः इन्हें निंदित करने के लिए 'जोगीरा' रूप में कुछ अश्लील गीत लोकजीवन में प्रचलित हुए। कबीर की लोकप्रियता से खिन्न एक तबके में 'कबीर' के नाम पर घोर अश्लील और गाली-गलौच से युक्त गीत भी प्रचलित हुए। पूर्वी उत्तर प्रदेश में होली के अवसर पर गाए जाने वाले 'जोगीरा' और 'कबीरा' जैसे अश्लील और भद्दे गीत उनकी लोकप्रियता के विरुद्ध समाज के एक तबके की प्रतिक्रिया के सूचक हैं; जिसे आगे चलकर तुलसीदास ने 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग' और 'सबदी साखी दोहरा' के रचयिताओं के माध्यम से अपने विरोध को साहित्यिक रूप प्रदान किया।

4.6 कबीर एवं तुलसी की सामाजिक-धार्मिक अवधारणा

कबीर और तुलसी उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रखर भक्त कवि रहे हैं। निर्गुण काव्यधारा के कबीरदास (1398-1518 ई.) यदि भक्तिकाल के आरम्भिक महत्वपूर्ण कवि थे तो तुलसीदास (1532-1623 ई.) उसके लगभग अंतिम महान कवि। दोनों कवियों का निवास-काशी रहा है। कबीर की मृत्यु के 14 वर्ष बाद पैदा होने वाले तुलसी के समक्ष कबीर की चुनौतियाँ मूर्तिमान रही हैं। समाज एक बृहत्तर घेरा है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति, परिवार, समुदाय, वर्ग, सम्प्रदाय, राज्य आदि विभिन्न इकाइयों के रूप में पूरा देश आ जाता है। धर्म, राजनीति, दर्शन, कानून व्यवस्था, कला, साहित्य आदि एक विशिष्ट युग की सामाजिक चेतना के रूपायन के विभिन्न माध्यम हैं। इन माध्यमों से जो चेतना व्यक्त होती है, उसी से अभिव्यक्तिकर्ता की सामाजिक-धार्मिक दृष्टि का पता लगाया जा सकता है। कबीर और तुलसी के साहित्य में व्यक्त उनकी सामाजिक-धार्मिक दृष्टि का पता लगाने के लिए हमें कुछ मुख्य आधारों के सम्बंध में उनकी प्रतिक्रियाओं पर विचार करना होगा। अध्ययन की सुविधा के लिए यहाँ निम्नलिखित आधारों का निर्धारण किया गया है : 1. भारतीय वर्ण व्यवस्था; 2. जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना; 3. सामाजिक-धार्मिक पाखंड; 4. अवतारवाद; 5. पुनर्जन्म, कर्मफल

एवं भाग्यवाद। आगे इन पर अलग-अलग विचार करके हम तुलसी और कबीर की एतद्विषयक मान्यताओं के अंतर को समझने का प्रयास करेंगे। इस प्रक्रिया में यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि लगभग एक ही युग के दोनों कवियों की वर्णगत वर्गीय मनोभूमि के अंतर के कारण परस्पर विरोधी मान्यताओं की अभिव्यक्ति हुई है।

4.6.1 भारतीय वर्ण-व्यवस्था

भारतीय वर्ण-व्यवस्था मध्यकालीन सामंती समाज की एक प्रमुख संचालिका शक्ति रही है। अपने आरम्भिक दौर में यह कार्य विभाजन पर आधारित था, जिसके अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार विभाग थे। यह वर्ण व्यवस्था की आम धारणा है, जो काफी बाद की है। वर्ण उद्भव के सम्बंध में प्रो. गोविंद सदाशिव धुर्वे ने लिखा हैः ''.....ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) के लिए कभी नहीं हुआ। वहाँ केवल आर्य-वर्ण या आर्य-जन का प्रयोग दास-वर्ण से अंतर स्पष्ट करने के लिए किया गया। ....शतपथ ब्राह्मण में चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ...ऋग्वेद में जो आर्य और दास के बीच अंतर मिलता है, वही बाद में आर्य और शूद्र में माना जाने लगा है।''

श्री एम.एन. श्रीनिवास ने लिखा है कि ''उनके (ऋग्वेद के) एक प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में, जो एक परवर्ती स्तोत्र है, से आदि पुरुष (ब्रह्मा) के बलिदान से समाज के चार क्रमों के उद्भव का संदर्भ मिलता है। उन चार क्रमों के नाम दिए गए हैं - ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र, जो जगत-स्रष्टा के मुख, भुजा, जंघा और पैरों से उत्पन्न माने गए हैं''। वस्तुतः यह विभाजन काफी परवर्ती है, जो ब्राह्मण ग्रंथों, महाभारत और मनुस्मृति के रचनाकाल तक अपने सोपान-क्रम में काफी दृढ़ और संकुचित हो गया था। आगे चलकर बौद्ध एवं जैन धर्मों का उदय इस व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, जिसने इस व्यवस्था को एक सीमा तक शिथिल भी किया। कालिदास के पूर्ववर्ती बौद्ध कवि-चिंतक अश्वघोष ने अपनी 'वज्रसूची' शीर्षक रचना के माध्यम से इस पर अत्यंत कठोर प्रहार किया है।

अनेक अवरोधों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था समाप्त नहीं हुई। आगे चलकर सामंतवादी उत्पादन व्यवस्था द्वारा निर्मित सामंतवादी सामाजिक सम्बंधों को अनुशासित करने में इसकी भूमिका अत्यंत कारगर सिद्ध हुई। अतः इसे पुनः दृढ़ करने का जोरदार प्रयास हुआ। इस विषय में डॉ. राजदेव सिंह ने लिखा है : ''सातवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच प्राप्त लेखों से पता चलता है कि बौद्धों आदि के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था में बहुत कमजोरियाँ आ गई थीं। समाज को धीरे-धीरे अनेक आर्थिक-सामाजिक कारणों से वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः स्वीकार करने पर विवश और उत्पीड़ित किया जा रहा था। यह दबाव धर्म का मुखौटा लगाए हुए था। गुप्तों के सामंत संक्षोभ को 'वर्णाश्रम स्थापनानिरत परम भागवत संक्षोभ' कहकर स्मरण किया गया है और श्री हर्ष के पिता प्रभाकर बर्धन को 'वर्णाश्रम व्यवस्थान प्रवृत्त' कहा गया है। कामरूप के राजा भास्कर वर्मन के लेख में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि उन्होंने पूर्वकाल में अव्यवस्थित वर्णाश्रम-व्यवस्था को पुनः सुव्यवस्थापित किया था।''

यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है कि मध्यकालीन समाज की सबसे दृढ़ इकाई गाँव थी। वर्ण-व्यवस्था के साथ ही सामंती व्यवस्था को भी संरक्षण यहीं से मिलता था। एक स्वतः सम्पूर्ण इकाई के रूप में गाँव की पंचायत, सामंत के माध्यम से सम्राट के शासन को लागू करने के साथ ही भूमि की व्यवस्था और करों का नियम लागू भी करती थी। यह सेवक-सेव्य भाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप लोक-मर्यादा तथा शास्त्रीय पौराणिक मर्यादा का पालन करवाती थी। यह इतनी दृढ़ इकाई थी कि इसने इस्लामी आक्रमण के धक्के को भी आसानी से झेल लिया। मुसलमानों के शासक-शोषण और बड़े-

बड़े जमींदार बनने के बाद प्रशासन की दृष्टि से सुदृढ़ ग्राम इकाई पर उनका प्रभाव नगण्य रहा। आगे चलकर धर्मान्तरित साधारण मुसलमान भी बुनकर, चुड़िहार, धुनिया, मोची, दर्जी आदि के रूप में इन्हें ग्राम इकाई का अभिन्न अंग बनाकर अधिकांशतः शूद्रों (आज के संदर्भ में दलित वर्ग) की श्रेणी में डाल दिया गया। जुलाहा जाति के नीरू-नीमा द्वारा पालित-पोषित कबीर भी इन्हीं की परम्परा में आते हैं।

कबीर ने अपने युगीन समाज की सबसे बड़ी विकृति के रूप में वर्ण-व्यवस्था को देखा था। सबसे तीखा प्रहार भी उन्होंने इस व्यवस्था पर ही किया है। चूँकि शास्त्र, पुराण और अन्यान्य धार्मिक-सामाजिक कर्मकांडों की आड़ में ब्राह्मण समुदाय के पंडे-पुरोहित ही इस वर्ण व्यवस्था के रक्षक बने हुए थे, अतः ये लोग ही उनके आघात के प्रमुख केंद्र बने। काशी के पंडितों को चुनौती देते हुए उन्होंने कहा है कि –

मैं कहता आँखिन की देखी; तू कहता कागद की लेखी।

अतः सही क्या है, मेरा देखा हुआ या तुम्हारी पोथियों में लिखा हुआ? वे ब्राह्मणों के सामने अपनी चुनौतियों को प्रायः प्रश्न के रूप में रखते हैं -'तू बामन मैं कासी का जुलाहा बूझउ मोर गियाना।' 'तू कैसे बामन हम कैसे सूता'। 'इस पाठ्यक्रम की दूसरी इकाई के अंतर्गत अंत में (2.3 में) कबीर की वर्णाश्रम विरोधी उक्तियों के उदाहरण के साथ नाभादास का उदाहरण 'कबीर कानि राखी नहीं बरनास्रम षडदर्शनी' को इसके लिए आप पुनः देख सकते हैं। यहाँ विशेष रूप से वर्णाश्रम सम्बंधी तुलसीदास की मान्यताओं पर ही चर्चा की जाएगी।

कबीरदास के विपरीत गोस्वामी तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के साथ ही ब्राह्मण श्रेष्ठता के भी समर्थक दिखाई देते हैं। कबीर एवं निर्गुण पंथ से वर्ण-व्यवस्था की जो क्षति हुई उससे विचलित होकर तुलसीदास ने 'दोहावली' में लिखा है –

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान।

बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रघर आँखि देखावहिं डाँटि।

यह तुलसीदास की ब्राह्मणवादी वर्णाश्रमी नैतिक दृष्टि है, जो भक्ति एवं ब्रह्मज्ञान को केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित रखना चाहती है। 'रामचरित मानस' के उत्तरकांड में कलियुग का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने अपनी इस मान्यता को अत्यंत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है –

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।।
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई घर संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। अभय लोक निज हाथ गवाँवहिं।।
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन पढ़हिं पुराना।।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी के समय तक वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा को काफी धक्का लगा था। इसकी रक्षा के लिए उन्होंने 'मानस' के साथ ही 'कवितावली', 'विनय पत्रिका' और 'दोहावली' में भी जोरदार अभियान छेड़ा है। 'कवितावली' में उन्होंने अपने युग की अराजकता का चित्रण करते हुए लिखा है –

बरन धरम गयो, आश्रम विचार तज्यो,

त्रासन चकित सो परावनों परो सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।

वर्णाश्रम धर्म के लोप से सारे समाज में अफरातफरी (परावनो) मची हुई है। गोरखपंथी साधना को अपनाकर लोगों ने भक्ति को निर्वासित कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास ने अपनी वर्णाश्रमवादी दृष्टि के दायरे में ही समाज के उत्थान-पतन की परिकल्पना की है। 'विनय पत्रिका' और 'दोहावली' के कलि वर्णन में भी वे ह्रासग्रस्त सामंती-व्यवस्था के नैतिक मूल्यों और सामाजिक-राजनितिक आदर्शों के रूप में ही सामने आते हैं –

राज समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुस कुचाल नई है।
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक वेद मरयाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई है।
(विनय पत्रिका)

गोंड़ गवाँर नृपाल महि, जमन महामहिपाल,
सामन दामन भेद कलि, केवल दंड कराल। (दोहावली)

तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की समीक्षा में तुलसीदास ने पाखंड और पाप में लीन पतित प्रजा के साथ ही राज समाज को भी फटकारा अवश्य है, लेकिन सामंती दृष्टिकोण के अनुशासन में ही रहकर।

एक सच्चे संत महात्मा की तरह तुलसीदास को सामाजिक दुर्दशा पर दुख अवश्य होता है, लेकिन उन्हें सबसे अधिक दुख इस बात का है कि गरीब और निम्नजाति के लोग विद्रोह क्यों करते हैं तथा सम्पन्न शासक वर्ग के लोग अपनी मर्यादा को भूलकर उन पर अत्याचार क्यों करते हैं? इन सभी समस्याओं का उनके पास एक ही समाधान है - शास्त्रमतवादी पौराणिक मान्यता पर आधारित वर्णाश्रम धर्म की स्थापना। इसे ही वे लोक-वेद की मर्यादा मानते हैं। इस प्रकार तत्कालीन समाज की सामंतवादी चेतना ही उनके काव्य में व्यक्त हुई है। इसके विपरीत कबीरदास ने वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित मर्यादावाद को असामाजिक सिद्ध करते हुए उस पर गरीब और निम्नवर्ग की दृष्टि से विचार किया है। अतः इस सम्बंध में दोनों की सामाजिक दृष्टियाँ भिन्न है।

4.6.2 जाति-पाँति, छुआछूत एवं ऊँच-नीच

भारतीय जाति-व्यवस्था सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी अनोखी व्यवस्था है, जो भारतीय समाज-रचना को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती है। यद्यपि इसका आधार वर्णाश्रम व्यवस्था ही है, लेकिन अपने विकास-क्रम में यह वर्ण से पर्याप्त भिन्न रूप ग्रहण कर गई। वस्तुतः हमारी ग्राम एवं कृषि आधारित अर्थव्यवस्था ने ही भारतीय जाति-व्यवस्था को एक विशिष्ट रूप दिया था। इसमें कर्म और पेशे के अनुसार जातियों का विभाजन हुआ था। ग्राम-स्तर पर भी सभी जातियाँ एक दूसरे पर निर्भर थीं। नाई, कहार, धोबी, दर्जी, लोहार, बढ़ई, धुनियाँ, बुनकर, माली, ग्वाल आदि के अपने-अपने कर्म थे इनमें से अधिकांश के लिए भूस्वामियों और काश्तकारों की ओर से फसलों की तैयारी के बाद एक निश्चित मात्रा में अनाज दिया जाता था। यहाँ कई गाँवों की अपनी सम्मिलित पंचायतों के साथ प्रत्येक गाँव की एक पंचायत हुआ करती थी। ब्राह्मण से लेकर दलित वर्ग तक अपनी ग्राम पंचायत के प्रति निष्ठा रखते थे। इस सहज व्यवस्था को शोषणमूलक बनाने में ब्राह्मण-पुरोहित वर्ग का विशेष हाथ रहा है। वेद, पुराण तथा अन्यान्य शास्त्रों की आड़ में उसने उच्चजातियों

की मिली भगत से निम्नजातियों के शोषण का मार्ग प्रशस्त किया। एक जातिविहीन इस्लामी संस्कृति के आगमन के बाद और धर्मांतरण से बचने के लिए ब्राह्मण समुदाय की ओर से जातीय बंधन को और अधिक कठोर बना दिया गया था। कबीर के समय तक जातीय भेदभाव अत्यंत उग्र रूप धारण कर चुका था।

कबीर ने काशी जैसी नगरी में रहते हुए जाति-पाँति के नाम पर होने वाले अनाचारों को बड़े ध्यान से देखा-सुना और झेला था। इस विषाक्त वातावरण ने उन्हें जन्म से ही विद्रोही बना दिया था। उन्होंने इस भावना का तर्कसंगत ढंग से विरोध करते हुए ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहा है यदि ईश्वर जाति भेद को मानता तो जन्म से ही मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित क्यों नहीं कर दिया। ईश्वर ने सबके शरीर को समान तत्वों से निर्मित किया है। हमारे तुम्हारे, शरीर में एक ही खून है, एक ही प्राणवायु है, एक समान सबको गर्भ में निवास करना पड़ता है, सभी एक ही तरह माँ के पेट से पैदा होते हैं, तो किस ज्ञान से तुम अपने को दूसरों से अलग समझते हो।' ब्राह्मणवादी नीतियों से बौखलाकर कबीर ने कहा कि 'यदि तुम ब्राह्मणी के पेट से पैदा होने वाले ब्राह्मण हो तो दूसरे ढंग से क्यों नहीं पैदा हुए'। काशी के ब्राह्मणों को ललकारते हुए उन्होंने कहा, 'तू बामन मैं कासी का जुलाहा, बूझौ मोर गियाना।' ब्राह्मणों की पवित्रता की भावना पर अत्यंत तार्किक ढंग से दुत्कारते हुए कबीर ने कहा है –

> काहे को कीजै पांडे छोति बिचारा । छोतिहि ते उपजा सब संसारा।
> हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध । तुम कैसे बामन पांडे हम कैसे सूद ।
> छोति-छोति करता, तुम्हही जाए । तो गर्भवास काहे को आए।

यहाँ कबीर साफ-साफ शब्दों में पूछते हैं, अरे! पांडे तू छूत-अछूत की बात क्यों करता है? छूत अथवा स्पर्श से ही यह संसार पैदा हुआ है। बिना स्पर्श या दो वस्तुओं के संयोग से कोई वस्तु निर्मित नहीं होती। अतः हमारा शरीर कैसे खून से और तुम्हारा दूध से कैसे बना है? दोनों शरीरों में एक ही प्रकार का रक्त होने पर कैसे अपवित्र और दूसरा पवित्र हो सकता है। एक ही तत्व से निर्मित शरीर पाकर तुम किस प्रकार ब्राह्मण और मैं अछूत हो सकता हूँ। तुमने ही छूआछूत का आडम्बर फैला रखा है। छूत से तुम्हें बचना था तो इतना समय गर्भवास में क्यों व्यतीत किया। यह तो सबसे अछूत जगह है। इस प्रकार कबीर ने अस्पृश्यता के सामाजिक कोढ़ पर अत्यंत कठोर और तार्किक आघात किया है।

तुलसीदास ने अपने साहित्य में अधिकांशतः सामाजिक समरसता और आपसी मेलजोल आदि का समर्थन किया है ताकि समाज में 'राम राज्य' कायम हो सके और अमीर–गरीब, दलित–ब्राह्मण सब सुखी रहें। पर वास्तविकता को भी उन्होंने नजरअंदाज नहीं किया और सामाजिक विद्वेष से खिन्न होकर ही उन्होंने लिखा :

1. धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
   काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब, काहू की जात बिगारौं न सोऊ।।

2. मेरी जाति-पाँत, न चहौ काहू की जाति पाँत,
   मेरे कोऊ काम को, न मैं काहू के काम को।

4.6.3 सामाजिक-धार्मिक पाखंड एवं अंधविश्वास

सामाजिक-धार्मिक पाखंडों का पर्दाफाश करने के लिए कबीर को एक साथ दो मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा। एक मोर्चा इस्लाम मतावलंबी काजी-मुल्लाओं का तो दूसरा हिंदू पंडे-पुरोहितों का। इन दोनों ही सम्प्रदायों के तत्ववादी-कट्टरपंथी, समाज में पाखंड और अंधविश्वास को बढ़ावा दे रहे थे।

कबीरदास ने पंडितों-पुरोहितों की हीन वृत्ति पर गहरा कटाक्ष करते हुए कहा था कि 'पंडित दूसरों से पर-सेवा, पर-उपकार, दान-पुण्य की बात करते हैं और इस प्रकार सदाचार की शिक्षा देते हैं, जिनसे वे स्वयं कोसों दूर रहते हैं।' जगतगुरु का पाखंड करने वाले ब्राह्मणों के लिए उन्होंने कहा है कि 'ब्राह्मण जगत का गुरु कहला सकता है, साधुओं का नहीं, क्योंकि वह चारों वेदों के अध्ययन में ही उलझ-पुलझ कर रह जाता है। संसार की वास्तविकता उससे दूर ही रहती है।'

इनके द्वारा दूसरों की कमाई पर मौज उड़ाने की प्रवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए कबीर ने कहा है :

खूब खांण है खीचड़ी माँहि पड़ा टुक लूण।
पेड़ा रोटी खाई करि गला कटावै कूँण।।

कर्मकांडी ब्राह्मणों पर और अधिक गहरी चोट करते हुए कबीर ने वेद, पुराण, शास्त्र, संध्या, तर्पण, गायत्री जाप आदि की निरर्थकता बताते हुए कहा हैः

पंडित भूले पढ़ि गुनि वेदा । आप न पावै नाना भेदा।
संध्या तर्पण अरु षटकर्मा । लागि रहैं इनके आश्रमा।
गायत्री युग चारि पढ़ाई । पूछौ जाइ मुकुति किन पाई।।

इसी प्रकार मूर्तिपूजा, तीर्थ स्नान, एकादशी, त्रयोदशी व्रत आदि की निरर्थकता और पाखंड को भी कबीर ने उजागर किया। कबीर से अलग तुलसी वेद, पुराण, शास्त्रों और स्मृतियों को सामाजिक-धार्मिक मर्यादा की रक्षा के लिए आवश्यक मानते थे।

4.6.4 अवतारवाद

अवतारवाद की संक्षिप्त चर्चा इस खंड की इकाई -2 में अंतिम भाग 'समकालीन परिवेश में कबीर की क्रिया-प्रतिक्रिया' के अंतर्गत की जा चुकी है। कबीर द्वारा अवतारवाद, विशेष रूप से रामावतार का खंडन पर भी हमने विचार किया है। यहाँ कबीरदास द्वारा अवतारवाद के खंडन की बात कम और तुलसी द्वारा उसकी विशेष रूप से रामावतार की प्रतिष्ठा को अपेक्षाकृत विस्तार से प्रस्तुत किया जाएगा। इस संदर्भ में यह ध्यान में रखने की बात है कि एक व्यक्ति के रूप में, पुरूषोत्तम के रूप में, राम की प्रतिष्ठा वाल्मीकि रामायण की रचना से भी काफी प्राचीन है। लेकिन परब्रह्म के अवतार के रूप में वह कृष्णावतार की परवर्ती है। आलवारों के अंतिम संत कुलशेखर आलवार ने नवीं शती के मध्य रामभक्ति का विस्तृत निरूपण किया। वहाँ से रामानुज द्वारा शास्त्रीय आधार पर ग्यारवीं शती में प्रतिष्ठित होकर वह उनकी शिष्य परम्परा में आने वाले रामानंद द्वारा उत्तर भारत पहुँची। कबीर के समय तक परब्रह्म के अवतार के रूप में दशरथ सुत राम की भक्ति सामाजिक-धार्मिक जीवन में अपनी जड़ पूरी तरह जमा चुकी थी। इसके द्वारा ब्राह्मण श्रेष्ठता, वेद में आस्था, वर्णव्यवस्था के प्रति पूर्ण विश्वास आदि पौराणिक मान्यताओं को पूर्ण प्रतिष्ठा दी गई थी। रामकथा के पात्र, राम रावण युद्ध आदि के कारण इसे पहले से ही काफी लोकप्रियता मिली हुई थी। 'बौद्ध रामायण' और 'जैन रामायण ' जैसी रचनाएँ इस लोकप्रियता का प्रमाण हैं। इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखकर दशरथ सुत राम की भगवत्ता कबीर को अपने उद्देश्य की पूर्ति में सबसे घातक लगी। अतः उन्हें पहले ही घोषणा करनी पड़ीः

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना । राम नाम का मरम है आना।।

रामनाम का असली अर्थ समझाने के लिए कबीर को रामावतार के साथ ही अवतारवाद की पूरी अवधारणा को ही खंडित करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। धर्म नगरी काशी में

ही कबीर की इस मुहिम को जो समर्थन मिला, उसने तुलसी को सर्वाधिक आहत किया। कबीर की चुनौती को रखकर अपने 'रामचरितमानस' में अनेक युक्तियों, अनेक पात्रों अनेक प्रसंगों की अवतारणा तुलसीदास को करनी पड़ी जिसके माध्यम से कबीर के खंडन के साथ ही राम की भगवत्ता स्थापित करने का उन्हें जी तोड़ प्रयास करना पड़ा।

'मानस' में चार वक्ताओं और श्रोताओं का विधान तुलसी ने किया है। इनमें शिव-पार्वती, कागभुसुंडि-गरुड़, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज के साथ स्वयं तुलसी और पाठक-श्रोता हैं। सभी अपने-अपने ढंग से दशरथ सुत राम के अवतार की पुष्टि करते हैं। यह व्यापार 'मानस' के बालकांड से ही शुरू हो जाता है। स्वयं तुलसीदास 'मानस' का मुख्य प्रतिपाद्य घोषित करते हुए कहते हैं :

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।
जेहि इमि गावँहि वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सो दशरथ सुत भगत हित कोसल पति भगवान।

बालकांड में पार्वती शिव के सम्मुख अपनी आशंका इस प्रकार प्रकट करती हैं :

राम कवन प्रभु पूछहुँ तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोहीं।।
एक राम अवधेश कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।।
नारि विरह दुख सदेउ अपारा। भयउ शेष रन रावन मारा।।
प्रभु सोई राम कि ऊपर कोई जाहि जपत त्रिपुरारि।।

इस प्रश्न पर पार्वती के अविवेकी नारि-बुद्धि पर कटाक्ष करते हुए शिव अत्यंत उत्तेजित होकर उत्तर देते हैं :

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि स्तुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिचास।
पाखंडी हरिपद विमुख जावहिं झूठ न साँच।।

इसके बाद शिव विस्तार से राम की भगवत्ता और अवतारवाद की प्रतिष्ठा करते हैं। पार्वती के साथ ही भारद्वाज, गरुड़ आदि भी राम की भगवत्ता पर आशंका करते हैं और शिव की भांति ही कागभुसुंडि और याज्ञवल्क्य भी जिसका अनेक युक्ति से समाधान करते हैं। तुलसीदास तो गाहे-बगाहे पाठक के सम्मुख राम की भगवत्ता को स्थापित करते ही चलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कबीर ने अपने निर्गुण-निराकार राम को जिस प्रकार की विशेषताओं से विभूषित किया था, उससे अवतारवाद की पौराणिक मान्यता काफी धूमिल हो गई थी। इसलिए तुलसीदास को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए इतनी विस्तृत योजना करनी पड़ी थी।

4.6.5 पुनर्जन्म, कर्मफल और भाग्यवाद

भारतीय हिंदू समाज में पुनर्जन्म एवं कर्मफल की मान्यता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। पुनर्जन्म की मान्यता अन्यान्य देशों में खोजने पर मिल भी जाती है, लेकिन कर्मफल का सिद्धांत भारत की अपनी विशेषता है। भारतीय समाज में दलित एवं उत्पीड़ित जातियों के लिए तो यह मान्यता अत्यंत घातक सिद्ध हुई है। वे अपनी दुर्गति के लिए पूर्वजन्म के कर्मों का फल मानकर संतुष्ट हो जाते हैं। यह सिद्धांत दुखों से मुक्ति के लिए आत्महत्या तक को निरर्थक सिद्ध करता है। क्योंकि उसे पुनः जन्म लेने के बाद भी अपने पूर्व जन्म के फल को भोगना ही पड़ेगा। यह ऐसा सिद्धांत रहा है, जिसने हजारों वर्षों के इतिहास में जन्म से दलित मानी गई जातियों के विद्रोह की भावना को कुंठित किया है। क्योंकि इन्होंने

यह मान लिया है कि उनके साथ जो हो रहा है, वह पूर्व जन्म के कर्मों के फल के कारण है। न तो इसे इस जन्म में मिटाया जा सकता है और न ही इसे कोई दूसरा भोग सकता है। कबीर ने पुनर्जन्म की स्थिति को तो स्वीकार किया है, लेकिन कर्मफल की मान्यता पर प्रश्न-वाचक चिह्न लगाते हुए स्पष्ट रूप से कहा है :

ज्यूं राम कहे ते रामैं होई। दुख कलेस घालै सब खोई।।
जन्म के कलविष जाहिं बिलाई। भरम करम का कछु न बसाई।
भ्रम क्रम दोऊ बरते लोई। इनका चरित न जानै कोई।।
हम दोउ संसार भुलावा। इहके लागे ध्यान गँवावा।।
भ्रम क्रम दोऊ मति परिहरिया। झूठै नांउ साच ले धरिया।।
रजनी गत गई रवि परगासा। भ्रम क्रम धूँ केर बिनासा।।

भक्ति के क्षेत्र में कर्मफल के सिद्धांत को कबीर ने यहाँ अस्वीकार किया है। राम की सहज भक्ति से भक्त स्वयं राम हो जाता है। उसके दुख, क्लेश और जन्म-मरण के बंधन कट जाते हैं। यहाँ कर्म का कोई वश नहीं चलता। कर्मफल के कारण कोई ब्राह्मण या दलित नहीं होता। लेकिन तुलसीदास ने पुनर्जन्म, कर्म-फल और भाग्यवाद की पुनर्प्रतिष्ठा की। वस्तुतः कबीर और तुलसी भक्तिकाव्य के दो पक्ष है और इन्हें साथ पढ़कर ही भारतीय समाज को समझा जा सकता है।

तुलसी और कबीर दोनों तत्कालीन समाज को शोषण और असमानता से मुक्त करना चाहते थे पर दोनों का मार्ग और सोच अलग थी। तुलसीदास सबको साथ लेकर चलना चाहते थे और यह जब वे 'वर्ण व्यवस्था' सीमा के अंतर्गत ही करना चाहते थे। कबीर इस 'वर्ण व्यवस्था' को सामाजिक शोषण का मूल कारण मानते थे इसलिए वे उस पर प्रहार करते हैं। दोनों की दृष्टियों में अंतर है पर लक्ष्य एक है – एक ऐसे समाज का स्थापना जहाँ कोई दुखी न हो।

अब प्रभाव व्यंजना की दृष्टि से भी कबीर और तुलसी के साहित्य पर विचार कर लेना चाहिए। कबीरदास ने अपनी सीधी-सादी शैली में अत्यंत अक्खड़ और आलोचनात्मक ढंग से अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत किया है, उनकी वाणी का प्रभाव सामान्य जनता के एक समुदाय पर निश्चित रूप से पड़ा है। इसके साथ उनसे प्रभावित होकर बहुत सारे निम्न जातीय चिंतक-कवियों ने उनका अनुगमन किया। इन सभी कवियों ने समाज के परम्परागत ढाँचे में व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित किया। जहाँ तक तुलसीदास का प्रश्न है, वे अपने युग के बहुत ही सजग और अत्यंत प्रभावशाली कवि रहे हैं। सरल सम्प्रेषण और लोकगम्यता की दृष्टि से काव्यजगत में उनकी समकक्षता में हिंदी के किसी दूसरे कवि को नहीं रखा जा सकता। लोकप्रियता की दृष्टि से उनका 'मानस' भिखमंगे की झोपड़ी से लेकर राजमहलों तक की शोभा बढ़ाता रहा है।

4.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में कबीर का, उनके पूर्ववर्ती सिद्ध नाथ साधकों, विशेष रूप से गोरखनाथ और परवर्ती महान कवि-चिंतक तुलसीदास के मध्य रखकर निरीक्षण परीक्षण का प्रयास किया गया है। इस प्रक्रिया में यह भी विवेचित किया गया है कबीर ने अपने पूर्ववर्तियों से कुछ लेते हुए और बहुत कुछ को अस्वीकार करते हुए अपना एक सुदृढ़ व्यक्तित्व निर्मित किया है। अपने पूर्ववर्तियों की पूरी छानबीन और अपने युग की गहरी समझ के माध्यम से संग्रह और त्याग की एक विशिष्ट चेतना का सहारा लेकर कबीर ने अपनी युक्ति लगाकर बहुसंख्यक उत्पीड़ित जन समुदाय ही नहीं, मानव-मात्र की सामाजिक-आध्यात्मिक मुक्ति

के मार्ग की तलाश की है। कबीर की यह तलाश काफी लम्बी रही है। इस प्रक्रिया में हमने देखा है कि उन्हें एक तरफ परम्परागत सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं और उन्हें बल प्रदान करने वाली वैदिक-शास्त्रीय और पौराणिक मान्यताओं का खंडन किया है तो दूसरी ओर वर्णव्यवस्था पर आधारित जाति-पाँति, छुआछूत, ऊँच-नीच की भावना पर आधारित सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों के खंडन के लिए उन्हें हिंदू पंडे पुरोहितों के साथ ही मुसलमान काजी-मुल्लाओं द्वारा अपने हितों और हितैषियों के हितों की पूर्ति के लिए फैलाए जा रहे पाखंड का भी जमकर विरोध करना पड़ा है।

कबीर और तुलसी को एक साथ रखकर भारतीय समाज में समरसता शांति और अहिंसा की स्थापना हो सकती है। उनका उद्देश्य यही था; हाँ मार्ग अलग थे। तुलसी सबको स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहते थे; कबीर सब कुछ नकार कर नया समाज बनाने के आकांक्षी थे

4.8 अभ्यास प्रश्न

1. हठयोग साधना के आधार पर गोरखनाथ की साधना पद्धति पर प्रकाश डालिए।
2. कबीर पर गोरखनाथ के प्रभाव का अंकन करते हुए कबीर की सहज साधना की मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।
3. भारतीय वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के सम्बंध में कबीर और तुलसी की मान्यताओं के अंतर को स्पष्ट कीजिए।
4. अवतारवाद, पुनर्जन्म और कर्मफल के सम्बंध में कबीर और तुलसी की मान्यताओं की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए उनके औचित्य पर विचार कीजिए।
5. "कबीर और तुलसी की सामाजिक चिंता में समानता होते हुए भी उनकी समाजोद्धार की उपाय-योजना एकदम भिन्न थी।" इस कथन के मूल आशय को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

इकाई 5 गुरुग्रंथ साहिब और कबीर

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 गुरुग्रंथ साहिब : एक परिचय

5.2.1 किस्सा संकलन का : विविध परम्पराएँ

5.2.2 संघटन, संकलन-पद्धति और आंतरिक क्रम

5.2.3 संकलन की प्रेरक पृष्ठभूमि और गुरुग्रंथ साहिब की विलक्षणता

5.2.4 आदिग्रंथ में संकलित गैर सिख संत कवि

5.3 आदिग्रंथ में कबीर : महत्व और प्रयोजन

5.3.1 कबीर के अध्ययन में आदिग्रंथ का महत्व

5.3.2 आदिग्रंथ में कबीर-वाणी के संकलन की प्रयोजनीयता

5.4 आदिग्रंथ में संकलित कबीर-वाणी : विषय-वस्तु और दर्शन

5.4.1 कबीर और गुरु अमरदास

5.4.2 कबीर और गुरु अर्जुनदेव

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्न

5.7 खंड से सम्बंधित उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- गुरुग्रंथ साहिब का परिचय प्राप्त कर सकेंगे;
- गुरुग्रंथ साहिब में संकलित गैर सिख संत कवियों के बारे में जान सकेंगे;
- आदिग्रंथ में कबीर का महत्व तथा कबीर-वाणी के संकलन की प्रयोजनीयता की परख कर सकेंगे;
- कबीर के अध्ययन में आदिग्रंथ का महत्व समझ सकेंगे;
- आदिग्रंथ में संकलित कबीर-वाणी में अभिव्यक्त विषय-वस्तु और दर्शन का विवेचनात्मक अध्ययन कर सकेंगे; और
- कबीर तथा सिख वैचारिकी में मतैक्य एवं मतांतर का परीक्षण कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत 'गुरुग्रंथ साहिब' में कबीर-वाणी के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम 'गुरुग्रंथ साहिब' का सामान्य परिचय दिया जा रहा है। मसलन यह कि 'गुरुग्रंथ साहिब' क्या है; 'आदिग्रंथ' एवं 'गुरुग्रंथ साहिब' अभिधानों के क्या अर्थ हैं; इसका संकलन कब और किनके द्वारा सम्पन्न हुआ; संकलन की कौन-सी परम्पराएँ हैं और उनमें क्या भिन्ताएँ हैं; कौन-सी परिस्थितियाँ संकलन की प्रेरणा बनीं; 'गुरुग्रंथ साहिब' की संकलन पद्धति एवं संघटन क्या है, किन अर्थों में यह एक विशिष्ट धर्मग्रंथ बन जाता है? जबकि 'गुरुग्रंथ साहिब' सिख पंथ का 'आधिकारिक

धर्मग्रंथ' (Authoritative scripture) है, तब गैर सिख संत कवियों के इसमें संकलन के क्या मायने हैं तथा वे संत कौन से हैं और उनमें कबीर का क्या स्थान है?

'आदिग्रंथ' कबीर-वाणी का अपेक्षाकृत प्राचीन, प्रामाणिक और विस्तृत संकलन ही नहीं, बल्कि अन्य संतों की कबीर पर टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत करता है, जिनसे उनसे सम्बंधित महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। किंतु तब भी कबीर की समस्त रचनाओं का इसमें संकलित न होना यह जाहिर करता है कि संकलन-प्रक्रिया में चयन की दृष्टियाँ भी कार्यरत रहीं तथा अनुमान किया जा सकता है कि कबीर-वाणी के 'ग्रंथ' में समाहित करने के कुछ निहितार्थ भी रहे हैं। इन बिंदुओं को जानने समझने के लिए 'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर-वाणी में अभिव्यक्त विषय-वस्तु और दर्शन को समझना आवश्यक है तथा यह भी कि किन बिंदुओं पर सिख गुरु, जिन्होंने कबीर पर अपने विचार व्यक्त किए हैं, उनसे मतैक्य अथवा मतांतर रखते हैं।

5.2 गुरुग्रंथ साहिब : एक परिचय

सिख पंथ के आधिकारिक धर्मग्रंथ (Authoritative scripture) 'गुरुग्रंथ साहिब' का महत्व कई परिप्रेक्ष्यों में है। दसवें गुरु गोबिन्द सिंह के समय, 1708 ई. में व्यक्तिगत गुरु-परम्परा का अंत हुआ, तब से गुरु पद 'ग्रंथ साहिब' में ही निहित हो गया और ग्रंथ को 'शबद गुरु' का दर्जा मिला, जो दुनिया भर के विभिन्न धर्मों में एक अनूठा दृष्टांत है। 'ग्रंथ साहिब' तदयुगीन राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के विविध चित्रों के साथ मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में अंतर्निहित व्यापक वैचारिकी, दर्शन, अध्यात्म, सत्संग आदि का सरस दस्तावेज है तो संत-कवियों की रचनाओं के अपेक्षाकृत निरपेक्ष प्रामाणिक संकलनों के कारण इसका साहित्यिक महत्व भी है। इस प्रकार यह भारतीय साहित्यिक परम्परा का एक रत्नकोष है जिसमें सिख गुरुओं के अलावा विभिन्न क्षेत्रों, विविध विचार-सरणियों, भिन्न जाति-धर्म के संतों की बानियों को श्रद्धापूर्वक समाहित किया गया है।

मध्ययुगीन भारतीय परिदृश्य में समाज अर्थगत, वर्णगत और जातिगत विषमताओं से रुग्ण था तो दूसरी ओर हिंदू परम्परा तथा इस्लाम आमने-सामने थे। उस समय के जन-समाज की उथल-पुथल और सामान्य जन की दारुण अवस्था के साक्ष्य 'गुरुग्रंथ साहिब' में मौजूद हैं। मराठी संत कवि नामदेव दर्ज करते हैं कि समाज में निम्न कही जाने वाली जाति से होने के कारण एक बार उन्हें मंदिर से बाहर निकाल दिया गया था-

> हँसत खेलत तेरे देहुरे आया। भक्ति करत नामा पकरि उठाया।
> हीनड़ी जाति मेरी जाद भराया। छीपे के जनमि कहे को आया।।

इसी पृष्ठभूमि में एक अखिल भारतीय स्वरूप में भक्ति-आंदोलन विकसित हुआ जिसमें समान मूल्यों पर आधारित जाति-सम्प्रदाय-वर्ग से परे एक बृहत कल्पित मानव समुदाय की सम्भावनाओं के संधान का प्रयोजन निहित था। इसकी एक धारा के रूप में जिस निर्गुण भक्ति का आविर्भाव हुआ, नानक देव उसी के अंग थे। इस विषय में उनकी मान्यता है कि उन्होंने सिख मत की नींव रखी। एक परम्परा के अनुसार नानकदेव के समय ही 'ग्रंथ साहिब' के संकलन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी।

'गुरुग्रंथ साहिब' का प्रारम्भिक नाम 'ग्रंथ साहिब' था, किंतु आगे दसवें गुरु गोबिंद सिंह कृत 'दसम ग्रंथ' से भेद दर्शाने के लिए इसे 'आदिग्रंथ' कहा गया, जिसका अभिप्राय है कि सिख परम्परा का यह आदि ग्रंथ है। गुरु गोबिंद सिंह ने जब नवें गुरु तेगबहादुर की रचनाओं को भी इसमें सम्मिलित कर दिया तथा गुरु की पदवी प्रदान कर दी, तब से इसे 'गुरुग्रंथ साहिब' कहा जाने लगा।

पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के समय संकलित 'आदिग्रंथ' की वाणियों का रचनाकाल लगभग पाँच सौ वर्षों तक विस्तृत है। बंगाल के कृष्णभक्त कवि जयदेव, जो इस ग्रंथ में संकलित

प्राचीनतम वाणीकार हैं, का रचनाकाल बारहवीं सदी माना जाता है। इसी तरह महाराष्ट्र के संत नामदेव चौदहवीं सदी, कबीरदास पंद्रहवीं सदी, स्वयं नानकदेव सोलहवीं सदी के माने जाते हैं जबकि अर्जुनदेव ने सत्रहवीं सदी के आरम्भ में 'आदिग्रंथ' का संकलन करते हुए अपनी तथा कुछ अन्य समकालीन संतों की रचनाओं को भी जगह दी है। इतने विस्तृत कालखंड एवं क्षेत्र रचित संत बानियों के इस संकलन को देखकर संकलनकर्त्ता के कार्य की व्यापकता और दुरूहता का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है।

आज यह निश्चयपूर्वक कह पाना मुश्किल है कि बानियों का यह संग्रह किस प्रकार किया गया होगा। एक अनुमान के अनुसार अर्जुनदेव ने अपने पूर्ववर्तियों से तत्सम्बंधी संग्रह प्राप्त किए थे, जैसे तीसरे गुरु अमरदास के पुत्र बाबा मोहन की पोथियाँ। तब भी गुरु अर्जुनदेव ने अन्य स्रोतों का भी उपयोग किया होगा जो आज उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि स्वयं 'मोहनपोथी' में संग्रहीत रचनाएँ अत्यल्प हैं। उल्लेखनीय है कि 'ग्रंथ' के संकलन की तीन महत्वपूर्ण परम्पराएँ हैं, जिनसे सम्बंधित जनश्रुतियों से संकलनकर्ता के इस भगीरथ प्रयत्न के प्रयोजनों का कुछ आभास मिलता है। आगे हम उन्हीं परम्पराओं पर विचार करेंगे।

5.2.1 किस्सा संकलन का : विविध परम्पराएँ

सर्वविदित है कि 'आदिग्रंथ' का संकलन सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने 1604 ई. में कराया। किंतु, एक मान्यता के अनुसार बानियों के संग्रह की प्रक्रिया पहले गुरु नानकदेव के समय ही प्रारम्भ हो गई थी। इसका संकेत नानकदेव के एक 'सलोक' से मिलता है, जिसमें वे 'सच्चा नाम' लिखने और लिखवाने वाले की स्तुति करते हैं :

> धनु सु कागदु कलम धनु धनु भांडा धनु मसु।
> धनु लेखारी नानक जिनि नामु लिखाइआ सचु।।

सम्भवतः अपनी घुमक्कड़ी के दौरान गुरु नानकदेव समान मतवाले संतों की वाणियों का संग्रह अपनी 'पोथी' में करते थे, जिसका उल्लेख 'पुरातन जनमसाखी' में मिलता है। भाई गुरुदास ने भी, जो अर्जुनदेव के समय संकलन के लिपिकार थे, वाणी-संग्रह वाली एक 'किताब' का उल्लेख किया है, जिसे नानकदेव अपनी यात्राओं के दौरान साथ रखते थे। कहते हैं कि अपने जीवन के 27वें वर्ष में नानकदेव, कबीरदास से भी मिले थे। दुर्भाग्यवश उनके जीवनकाल में लिपिबद्ध वाणी-संग्रह की कोई पांडुलिपि आज उपलब्ध नहीं है, किंतु अनुमान किया जाता है कि बाबा मोहन की पोथियों का आधार अवश्य ही नानक की पोथी रही होगी। उल्लेखनीय है कि अपनी बानियों में नानकदेव ने शेख फरीद के अतिरिक्त अन्य किसी संत का नामोल्लेख नहीं किया है।

सद्यःस्थापित सिख मत का तीव्र प्रचार-प्रसार होने से गुरु-वाणियाँ दिन-ब-दिन अधिक लोकप्रिय हो रही थीं। इसी समय कुछ छद्म लोगों ने नानक के नाम से रचनाएँ शुरू कीं तो प्रामाणिकता का प्रश्न सामने आया। दूसरी ओर, विभिन्न सिख 'संगतों' में गुरु-वाणियों की प्रतियों की माँग बढ़ी। ऐसे में, तीसरे गुरु अमरदास के समय गुरुओं के साथ कुछ अन्य संतों की वाणियों के संकलन के एक निश्चित प्रयत्न के संकेत मिलते हैं। भाई गुरदास ने गायक और लिपिकार पंढा और बुला का हवाला दिया है, जिन्होंने गुरु अमरदास के समय सिखों के बीच वितरण के लिए गुरु बानियों की प्रतियाँ तैयार की थीं। ध्यातत्व है कि 'आदिग्रंथ' में संकलित बानियों में गुरु अमरदास ही पहले सिख गुरु हैं, जिन्होंने कबीर पर टिप्पणियाँ की हैं। इसके अलावा चौथे गुरु रामदास द्वारा भी वाणी संग्रह के प्रयत्नों को स्वीकार किया जाए तो स्पष्ट है कि अर्जुनदेव के समक्ष वाणी-संग्रह की एक पूरी परम्परा मौजूद थी।

अर्जुनदेव के समय, एक अनुश्रुति के अनुसार, उनके बड़े भाई पृथीचंद, जिनकी दृष्टि गुरु-पद पर थी, तथा 'बंसावलीनामा' के रचयिता केसर सिंह छिब्बर के अनुसार पृथीचंद के पुत्र कवि मेहरवान ने 'नानक' नामछाप से रचनाएँ कीं। पृथीचंद और उनके 'मीना' अनुयायियों

ने अपनी गुरु-परम्परा स्थापित करने के क्रम में इस तरह का एक ग्रंथ भी तैयार कर लिया। गुरु अर्जुनदेव ने स्वयं ऐसी रचनाएँ सुनने के बाद भाई गुरदास (गुरदास भल्ला) से कहा कि गुरुओं की प्रामाणिक वाणियों को अलग किया जाना जरूरी है, क्योंकि मीना उनमें मिलावट कर रहे हैं। इस तरह का अनुरोध कुछ सिखों ने भी अर्जुनदेव से किया था। गुरु-वाणियों के संकलन के दरम्यान ही अर्जुनदेव को 'ग्रंथ साहिब' के संकलन का विचार आया और उन्होंने अन्य संत कवियों की रचनाओं का भी समावेश कर लिया। गुरुदास भल्ला इस संकलन के लिपिकार बने। संकलन की यह 'मूलबीड़' गुरु हरगोविंद से होते हुए उनके पौत्र धीरमल को प्राप्त हुई और आज भी करतापुर में उनके वंशजों के पास सुरक्षित है। यह 'करतापुर वाली बीड़' कहलाई।

मूल संकलन पूर्ण होने पर गुरु अर्जुनदेव ने भाई बन्नो को जिल्द बँधवाने लाहौर भेजा। लाहौर-यात्रा के दौरान ही भाई बन्नो ने 'मूल बीड़' की प्रतिलिपि तैयार कर ली, जो आगे भाई बन्नों की बीड़ कहलाई और इसमें सूरदास तथा मीराबाई के पद भी शामिल कर लिए गए थे। अर्जुनदेव ने चूँकि इस संस्करण को प्रमाणित नहीं किया, इसलिए वह 'खड़ी बीड़ ' भी कहलाई।

संकलन की तीसरी परम्परा गुरु गोबिंद सिंह के समय अस्तित्व में आई, जब 'ग्रंथ साहिब ' को प्राप्त करने हेतु उन्होंने धीरमल से सम्पर्क किया। कहते हैं कि धीरमल ने उन्हें टका-सा जवाब भेजा- 'अगर गुरु हो तो अपना ग्रंथ साहिब स्वयं तैयार करो'। गुरु गोबिंद सिंह का कोई जीवित उत्तराधिकारी नहीं था, इसलिए वे गुरु-पद 'ग्रंथ साहिब' में ही सन्निहित करना चाहते थे। अतएव दमदमा में उन्होंने स्वतंत्र संकलन तैयार कराया, जिसमें नवें गुरु तेगबहादुर की रचनाओं को भी समाहित कर लिया गया। गुरु तेगबहादुर के 'सलोकों' के अंत में संकलित एवं 'सलोक' स्वयं गोबिंद सिंह द्वारा रचित बताया जाता है, हालाँकि खुद की रचनाओं को 'ग्रंथ' में शामिल करने के कुछ आग्रहों को ठुकराते हुए उन्होंने कहा था कि 'आदिग्रंथ पवित्र है जबकि उनकी खुद की कविताई खेल मात्र'। संकलन की यह तीसरी परम्परा, जिसके लिपिकार भाई मानी सिंह थे, आगे 'दमदमेवाली बीड़' कहलाई।

बाद में भाई मानी सिंह ने गुरु गोबिंद सिंह की रचनाओं का एक पृथक संकलन तैयार किया, जिसे 'दसम ग्रंथ' कहा गया। उन्होंने 'आदि ग्रंथ' का भी एक अन्य संस्करण तैयार किया, जिसमें बानियों के परम्परागत क्रम को बदल दिया तथा संतों की बानियों को गुरु-बानियों से अलग कर दिया। साथ ही मानी सिंह ने 'आदिग्रंथ' और 'दसम ग्रंथ' को साथ मिलाकर संकलित करने की चेष्टा भी की। किंतु उनके इस कृत्य की सिखों ने सरेआम निंदा की, क्योंकि इससे पूर्व ही 'ग्रंथ' को गुरु की पदवी प्रदान कर दी गई और मानी सिंह के इस प्रयत्न को सिखों ने गुरु की देह के अंग-विच्छेद के समान माना।

ज्ञातव्य है कि संकलन की इन तीनों परम्पराओं में पर्याप्त पाठ-भेद मौजूद हैं, जैसा कि हम सूरदास और मीराबाई के संदर्भ में देख सकते हैं। पंथ की परम्परा में 'करतारपुर वाली बीड़' को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। दूसरी बात यह कि 'आदिग्रंथ' और 'गुरुग्रंथ साहिब' समानार्थी नहीं हैं तथा इनके बीच भेद का भी हमें ध्यान रखना चाहिए।

5.2.2 संघटन, संकलन-पद्धति और आंतरिक क्रम

मुद्रित 'आदि श्री गुरुग्रंथ साहिब' में सिख गुरुओं के साथ-साथ विभिन्न जाति, धर्म, क्षेत्र एवं विचार-सरणियों से सम्बद्ध संत कवियों की वाणियाँ कुल 1430 पृष्ठों में संकलित हैं। अध्ययन की दृष्टि से पूरे ग्रंथ को तीन खंडों में विभाजित किया जा सकता है :

खंड एक - इसके अंतर्गत जपुजी, रहिरास तथा सोहिला को रखा गया है।

क) जपुजी गुरुनानक देव विरचित प्रातःकालीन वंदना है।

ख) रहिरास संध्याकालीन वंदना है, जो सोदरू और सोपुरुख का संयुक्त नाम है।

ग) सोहिला शयन के समय रात्रिकालीन वंदना है।

खंड दो - यह ग्रंथ का मुख्य भाग है, जिसमें सिख गुरुओं एवं संतों की वाणियों को विभिन्न राग-रागिनियों के अंतर्गत संकलित किया गया है। इसमें संकलित कुल 31 रागों का क्रम इस प्रकार है :

1.	सिरी राग	12.	टोड़ी	23.	केदारा
2.	माझ	13.	बैराड़ी	24.	भैरउ
3.	गउड़ी	14.	तिलंग	25.	बसंत
4.	आसा	15.	सूही	26.	सारंग
5.	गूजरी	16.	बिलावल	27.	मलार
6.	देवगन्धारी	17.	गौंड	28.	कानड़ा
7.	विहागड़ा	18.	रामकली	29.	कल्यान
8.	वड़हंस	19.	नट नाराइन	30.	परभाती
9.	सोरठि	20.	माली गउड़ा	31.	जैजावंती
10.	धनासरी	21.	मारू		
11.	जैतसरी	22.	तुखारी		

प्रत्येक राग के अंतर्गत पहले सिख गुरुओं की वाणी रखी गई है, फिर अन्य संतों की। उल्लेखनीय है कि सभी गुरुओं ने 'नानक' नामछाप से ही रचनाएँ की हैं क्योंकि मान्यता है कि सभी गुरुओं के भीतर नानकदेव की आत्मा ही संचरित होती रही। हर राग के अंतर्गत विभिन्न गुरुओं की वाणियों को अलगाने के लिए उन्हें विभिन्न 'महलों' के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है, यथा-महला 1 (गुरुनानक), महला 2 (गुरु अंगददेव), महला 3 (गुरु अमरदास), महला 4 (गुरु रामदास), महला 5 (गुरु अर्जुनदेव) तथा महला 9 (गुरु तेगबहादुर)। संत बानियों का आरम्भ प्रायः कबीर की रचनाओं से होता है। यह अनुमान किया जा सकता है कि विभिन्न संतों में कबीर को वरीयता दी गई है। सिख गुरुओं ने कबीर सहित विभिन्न संतों की बानियों के अंतर्गत उन पर टिप्पणियाँ भी दी हैं तथा अपनी खुद की बानियों के अंतर्गत भी इस हेतु गुरुओं ने उनका उल्लेख किया है।

खंड तीन - इसके अंतर्गत भोग (समाप्ति) की वाणी रखी गई है, जिसमें सलोक, सवैये, भाट वाणी आदि संकलित हैं। 'ग्रंथ' का समापन रागमाला से होता है जिसमें विभिन्न राग-रागिनियों के अंतःसम्बंधों पर विचार किया गया है।

5.2.3 संकलन की प्रेरक पृष्ठभूमि और गुरुग्रंथ साहिब की विलक्षणता

'आदिग्रंथ' के संकलन को तत्कालीन संश्लिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के आलोक में समझा जा सकता है, जिनका सामना अपनी स्थापना के बाद से सिख पंथ को करना पड़ा। एक विचार में, गुरु अर्जुनदेव का प्राथमिक सरोकार एक ऐसे आधिकारिक पाठ का निर्माण करना था, जिससे सद्यःस्थापित सिख पंथ से एक स्वतंत्र और पृथक पहचान (Unique Identity) मिल सके। इस हेतु उनके समक्ष 'कुरान' का दृष्टांत मौजूद था। इस प्रकार एक आधिकारिक धर्मग्रंथ (Authoritative scripture) के रूप में 'आदिग्रंथ' के संकलन में इस्लामी-परम्परा का प्रभाव भी स्वीकारा जाता है। फिर भी यह प्रभाव सतही था, क्योंकि

'ग्रंथ' की आंतरिक संरचना में 'कुरान' से किसी सीधे प्रभाव के संकेत नहीं मिलते। इसके विपरीत वर्ण्य-विषय, यथा-वेद-पुराण से ग्रहण किए गए मिथक आदि, अथवा संकलन पद्धति, यथा-रागों का संयोजन आदि के मद्देनजर 'आदिग्रंथ' अपेक्षाकृत भारतीय पारम्परिक मीमांसा की सरणि में प्रतीत होता है। किंतु इसका सरोकार भी प्रचलित प्रतीकों के माध्यम से अपना संदेश जन-सामान्य तक पहुँचा देने तक ही सीमित था। 'आदिग्रंथ' में चूँकि वेद, पुराण और शास्त्रों को नकारा गया है, इसलिए इसे हिंदू धर्म के अंतर्गत भी सीधे तौर पर नहीं रखा जा सकता। दूसरी ओर कुछ लोगों का मानना है कि 'आदिग्रंथ' का संकलन हिंदूवाद एवं इस्लाम के बीच समझौतावाद का परिणाम था तो कुछ अन्य लोगों के अनुसार यह दोनों से पृथक एक भिन्न परम्परा के अविर्भाव का परिणाम था, जिसका एक सिरा भारतीय परम्परा की दिशा में था तो दूसरा पश्चिमी एकेश्वरवादी धर्मपंथों की ओर उन्मुख।

हम यह जानते हैं कि 'गुरुग्रंथ साहिब' की विशिष्टता इसका 'शबद गुरु' होना है, किंतु इसकी कुछ अन्य विलक्षणताएँ भी हैं जो अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करती हैं।

- 'गुरुग्रंथ साहिब' पूर्णतः एकेश्वरवादी है जो हिंदी परम्परा की तरह बहुदेववाद में आस्था नहीं रखता। किंतु साथ ही यह ईसाइयत के 'न्यूटेस्टामेंट' की तरह 'ईश्वर के पुत्र' तथा पवित्र 'कुरान' की तरह 'पैगम्बर' में भी विश्वास नहीं रखता।
- 'गुरु ग्रंथ साहिब' समस्त मानव समुदाय के लिए एक सार्वभौमिक साधना-पद्धति का प्रतिपादन करता है। यह साधना यहूदीवाद की तरह कुछ खास लोगों तक सीमित नहीं है।
- यह हर तरह के आचारवाद, रूढ़िवाद, प्रतीकवाद को नकारता है तथा ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी पुजारी तंत्र या बिचौलिये का विरोधी है।
- 'ग्रंथ साहिब' सच्चे एवं ईमानदार श्रम को महत्व देता है तथा संन्यास और वैराग्य की निंदा करता है। इस प्रकार यह श्रमिक एवं गृहस्थों का धर्म प्रतिपादित करता है।
- यह स्त्रियों को पुरुषों से हीन नहीं मानता। यह हिंदू वर्णाश्रमवाद, जातिवाद, छुआछूत का विरोधी है तथा जन्म, स्थान, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव को नकारता है।
- 'गुरु ग्रंथ साहिब' कर्म, भक्ति और ज्ञान का संतुलन प्रतिपादित करता है। शरीर की सार्थकता जहाँ परिवार-समाज की भलाई हेतु सत्कर्मों में है, वहीं मन को ईश्वर की ओर उन्मुख होना चाहिए। सेवाभाव इसका संदेश है।

5.2.4 आदिग्रंथ में संकलित गैर सिख संत कवि

एक धर्मग्रंथ से ऊपर उठकर यदि देखें तो 'आदिग्रंथ' सही मायनों में 'अनेकता में एकता' का प्रतीक है जो क्षेत्र, जाति, व्यवसाय और साम्प्रदायिक आग्रहों से मुक्त एक खुलेपन का संदेश देता है। 'ग्रंथ' के समावेशी आदर्श को दो स्तरों पर स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है -संकलित संतों की पहचानगत विविधता तथा भाषायी विशिष्टता। अपने एक पद में अर्जुनदेव संत प्रवृत्ति के विभिन्न लोगों का स्मरण पूरी श्रद्धा के साथ करते हैं :

सुणि साखी मन जपि पिआर। अजामलु उधरिया कहि एक बार।

X X X

धंनै सेविआ बालबुधि। त्रिलोचन गुर मिलि भई सिधि।

X X X

जैदेव तिआगिओ अहंमेव। नाई उधारिओ सैनु सेव।

X X X

कबीरि धिआइओ एक रंग। नामदेव हरि जीउ बसहि संगि।
रविदास धियाए प्रभ अनूप। गुर नानक देव गोबिंद रूप।।'

'आदिग्रंथ' में संकलित गैर सिख संत कवियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

	स्थान	जन्मकुल	आस्था	आदिग्रंथ में संकलित पद
• जयदेव	बीरभूम	ब्राह्मण	कृष्णभक्त	2 पद
• शेख फरीद	पाकपत्तन	मुस्लिम	सूफ़ीवाद	4 पद,112 सलोक
• त्रिलोचन	शोलापुर	वैश्य	निर्गुणवाद	4 पद
• नामदेव	सतारा	छीपी	निर्गुणवाद	61 पद, 2 सलोक
• सधना	सिंध	कसाई	निर्गुणवादी	1 पद
• बेनी	टोंक	-	-	3 पद
• रामानंद	बनारस/प्रयाग	ब्राह्मण	रामभक्त	1 पद
• कबीर	बनारस	जुलाहा	निर्गुणवाद	228 पद, 243 सलोक
• रविदास	बनारस	चमार	निर्गुणवाद	40 पद
• पीपा	गँगरौनगढ़	चौहान	निर्गुणवाद	1 पद
• सेन	रीवा	नाई	निर्गुणवाद	1 पद
• धन्ना	टोंक	जाट	निर्गुणवाद	3 पद
• भीखन	लखनऊ	-	सूफ़ीवाद	2 पद
• परमानंद	शोलापुर	ब्राह्मण	-	1 पद
• सूरदास	ब्रज	ब्राह्मण	कृष्णभक्त	1 पंक्ति
• मीराबाई	राजस्थान	राजपूत स्त्री	कृष्णभक्त	1 पद (बन्नो वाली बीड़ में)

ऐसा माना जाता है कि ये संत व्यापक स्तर पर भ्रमण करते थे, इसलिए उनकी भाषा में विभिन्न जनपदों के भाषायी तत्व अनायास ही आते गए। इन संतों की बानियों के माध्यम से ये तत्व आदिग्रंथ में भी समाहित होते गए। अतएव गुरुमुखी लिपि में संकलित होने के बावजूद 'आदिग्रंथ' की भाषा, समावेशिता का आदर्श प्रस्तुत करती है, जिसमें पंजाबी, मराठी, गुजराती, पूर्वी भारत की बोलियों आदि से शब्द ग्रहण किए गए हैं।

इस प्रकार, मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन समस्त मतांतरों के ऊपर मनुष्यता के स्तर पर विभिन्न परंपराओं के बीच जिस संवाद का प्रतिफल था, उसकी अनुगूंज 'आदिग्रंथ' में व्याप्त है, जो भारतीय समाज के धार्मिक बहुलतावाद का प्रमाण है।

5.3 आदिग्रंथ में कबीर : महत्व और प्रयोजन

'आदिग्रंथ' में सिख परम्परा के बाहर के जिन संत कवियों को जगह मिली है, उनमें कबीरदास की विशेष स्थिति दो कारणों से है। प्रथम तो यह कि विभिन्न रागों के अंतर्गत गुरु-बानियों के ठीक बाद प्रायः कबीर की बानियाँ रखी गई हैं। ऐसा 'सलोकों' के अंतर्गत भी देखा जा सकता है। दूसरे यह कि विभिन्न गैर सिख संतों में कबीर की रचनाएँ सर्वाधिक हैं।

'आदिग्रंथ' में सत्रह विभिन्न रागों-सिरी राग, गउड़ी, आसा, गूजरी, सोरठ, धनासिरी, तिलंग, सूही, बिलावल, गौंड, रामकली, मारू, केदारा, भैरो, बसंत, सारंग, तथा परभाती

के अंतर्गत कबीरदास के तीन लम्बे पदों-बावन अखरी, थितिं और वार सत सहित कुल 228 पदों के साथ 243 सलोकों को संकलित किया गया है। इनमें रामकली को छोड़कर शेष सभी रागों के अंतर्गत गुरुओं के ठीक बाद कबीरदास की बानियों को रखा गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि शेष अन्य गैर सिख संतों की रचनाओं को मिला भी दें, तब भी कबीरदास की संकलित रचनाओं की संख्या उनसे अधिक है। फिर भी कई अन्य स्रोतों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास की समस्त रचनाओं को 'ग्रंथ' में जगह नहीं मिली है।

5.3.1 कबीर के अध्ययन में आदिग्रंथ का महत्व

कबीर के अध्ययन के संदर्भ में 'आदिग्रंथ' के महत्व को दो स्तरों पर रेखांकित किया जा सकता है। प्रथम स्तर कबीर की रचनाओं के प्रामाणिक पाठ से सम्बद्ध है। हाल ही में प्राप्त 582 ई. की 'फतेहपुर पांडुलिपि' (पद सूरदास जी का), जिसमें कबीर के मात्र पंद्रह पद संकलित हैं, को छोड़कर 'आदिग्रंथ' उनकी कविताई का सम्भवतः एकमात्र प्राचीनतम संकलन है जिसकी पुरानी और ज्ञात तिथियों वाली पांडुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं। कबीरदास की परम्परागत निधन तिथि 1518 ई. के सौ वर्षों के भीतर संकलित होने के कारण 'आदिग्रंथ' (1604 ई. संकलन काल) में संग्रहीत उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता अन्य परवर्ती स्रोतों की अपेक्षा निर्विवाद है। पर जैसा कि हम देख चुके हैं, 'आदिग्रंथ' के संकलन के पीछे भी एक दीर्घकालीन प्रक्रिया रही है। तब एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि सिख साहित्यिक परम्परा में कबीर को कब समाहित किया गया?

एक मान्यता के अनुसार कबीर की रचनाओं को स्वयं गुरु नानकदेव ने सिख परम्परा में अंगीकृत किया। साक्ष्य स्वरूप बताया जाता है कि परवर्ती 'जनम साखियों' के अनुसार नानकदेव कबीर से मिल चुके थे तथा उनके प्रति श्रद्धा भी रखते थे। दूसरे, उनकी कविताई के स्वरूप एवं वैचारिक साम्य को भी इस संदर्भ में रेखांकित किया जाता है, जैसे कि गुरु के महत्व को दोनों इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

कहु नानक निसचौ धियावै।
बिनु सतिगुर बाट न पावै।। - नानक देव
बिनु सतिगुर बाट न पाई।
कछु कबीर समझाई।। - कबीर

किंतु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कबीर और गुरुनानक का मिलना असंगत प्रतीत होता है। दूसरे यह कि अपनी बानियों में नानकदेव ने शेख फरीद की तरह कबीर का नामोल्लेख भी नहीं किया है। 'आदिग्रंथ' में कबीर का प्रथम बार उल्लेख एवं उन पर टिप्पणी करने वाले सिख गुरु अमरदास थे – 'नामा छीबा कबीरू जोलाहा पूरे गर ते गति पाई।' तीसरे यह कि सिख साहित्य परम्परा में 'गोयंदवाल पोथी' में ही, जिसका निर्माण गुरु अमरदास के समय हुआ, सर्वप्रथम कबीर की रचनाओं को संकलित किए जाने के संकेत मिलते हैं। इस आधार पर कुछ लोगों का मानना है कि सिख साहित्य परम्परा में कबीर को तीसरे गुरु अमरदास के समय ही जगह मिली होगी।

जो भी हो, कबीर की रचनाओं के विभिन्न स्रोतों – बीजक, सर्वांगियों, पंचवानियों आदि के मद्देनजर यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की सभी रचनाओं को 'आदिग्रंथ' में जगह नहीं मिली है। गैर सिख परम्पराओं को यदि छोड़ भी दें तो स्वयं 'गोयंदवाल पोथी' में संकलित कुछ कबीर-बानियों को भी 'ग्रंथ' के संकलनकर्त्ता ने छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त 'करतार पुर वाली बीड़' में भी कबीर के चार पदों को मिटाए जाने के साक्ष्य मिलते हैं। अन्य संकलनों, यथा 'कबीर ग्रंथावली' तथा 'बीजक', जिनके आधार-स्रोत क्रमशः दादूपंथी और कबीर पंथी पांडुलिपियाँ हैं - से तुलना करने पर उनमें तथा 'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर की रचनाओं में भेद और साम्य को बखूबी समझा जा सकता है। जाहिर है कि 'ग्रंथ' के संकलन के दौरान चयन की कुछ दृष्टियाँ कार्यरत थीं।

कबीर सम्बंधी अध्ययन में 'आदिग्रंथ' के महत्व का दूसरा स्तर उनके जीवन-तथ्यों से जुड़ता है। इसमें संकलित कबीर की स्वयं की कविताई तथा अन्य संतों की उन पर टिप्पणियों से कबीर के जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। जैसे रैदास उनके बारे में कहते हैं –

जा कै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जा कै बाप वैसी करी पूत ऐसी धरी तिहू रे लोक परसिध कबीरा।।

इसी तरह सिख गुरुओं, पीपा, धन्ना आदि ने उनके जीवन पर टिप्पणियाँ की हैं। दूसरी ओर स्वयं कबीर की बानियों से भी उनके जीवन सम्बंधी अंतःसाक्ष्य मिलते हैं। अपने जन्मकुल के बारे में वे कहते हैं –

जाति जुलाहा मति का धीरु।
सहजि सहजि गुण रमै कबीरु।।

X X X

तूं बाम्हन मैं कासी का जुलहा बूझहु मोर गिआना।
तुम्ह तउ जाचे भूपति राजे हरि सउ मोर धिआना।।

'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर की कविताई से पता चलता है कि साधना में बाधक होने के कारण वे कपड़ा बुनने के पैतृक व्यवसाय से भी विरत हो गए थे –

तनना बुनना सभु तजिओ है कबीर।
हरि का नामु लिख लीओ सरीर।।

कबीर काशी निवासी थे, पर कहते हैं कि अंत समय वे मगहर चले गए थे, जिसका उन्हें मलाल भी था। कबीर का पद है –'जिउ जल छोडि बाहरि भइओ मीना।

पूरब जनम हउ तप का कीना।।
अब कहु राम कवन गति मोरी।
तजीले बनारस मति भई थोरी।।
सगल जनमु शिव पुरी गवाइआ।
मरती बार मगहरि उठि आइआ।।
बहुतु बरस तपु कीआ कासी।
मरनु भइआ मगहर की बासी।।

'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर-बानियों से उनके गुरु तथा परिवार के संकेत भी मिलते हैं –

गुरु - हज हमारी गोमती तीर। जहा बसहि पीतंबर पीर।।

माता - मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।।

पत्नी - मेरी बहुरीआ को धनीआ नाउ। ले राखिओ राम जनीआ नाउ।।

संतान - बूडा बंसु कबीर का उपजियो पूतु कमालु।
हरि का सिमरनु छाडि कै घरि ले आया मालु।।

उल्लेखनीय है कि कबीर सम्बंधी कुछ चमत्कारिक घटनाओं वाली पंक्तियाँ भी 'आदिग्रंथ' में मौजूद हैं। कहते हैं सिकंदर लोदी ने कबीर को बनारस में बंदी बनाकर हाथी के सामने डाल दिया था। पर कबीर चमत्कारिक ढंग से बच गए थे –

भुजा बांधि ला करि डारिओ। हसती क्रोपि मूंड महि मारिओ।
हसति भागि कै चीसा मारै। इआ मूरति कै हउ बलिहारै।।

इसे लक्ष्य कर डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल 'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर-वाणी की प्रामाणिकता पर प्रश्न उठाते हैं : 'कबीर के दंडित होने के सम्बंध में उनकी ओर से प्रदर्शित चमत्कारों का उसमें सम्मिलित कर लिया जाना, स्पष्ट रूप में सिद्ध कर देता है

कि संग्रह (आदिग्रंथ) भी संदिग्ध बातों से मुक्त नहीं।' इसके अलावा यह जानने योग्य है कि 'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर के कुछ पदों की पुष्टि अन्य स्त्रोतों से नहीं होती तथा कई पद अन्यत्र पाठ-भेद के साथ मिलते हैं।

5.3.2 आदिग्रंथ में कबीर-वाणी के संकलन की प्रयोजनीयता

'आदिग्रंथ' के संदर्भ में एक प्रश्न अनायास ही उठता है कि जब यह सिख मत का अधिकारिक धर्मग्रंथ है तो कबीरदास सरीखे गैर सिख संत को इसमें समाहित करने के पीछे संकलनकर्त्ता के कौन-से उद्देश्य थे? आधुनिक युग में इसके निहितार्थों को समझने का प्रयत्न कई अध्येताओं ने किया है।

एक मान्यता के अनुसार 'आदिग्रंथ' में कबीर-वाणी के संकलन का आधार कबीर तथा सिख गुरुओं के विचारों, सिद्धांतों और शिक्षाओं में समानता है, जैसे-सार्वभौमिक-सार्वकालिक निर्गुण निराकार ब्रह्म की अवधारणा, जाति-सम्प्रदाय विरोध, वैयक्तिक रहस्यवादी साधना, सतगुरु में आस्था इत्यादि, जिससे सिख-परम्परा की मानसिकता एवं उसकी उत्प्रेरणाओं को बल मिलता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः इसी कारण कबीरदास की चयनित रचनाओं को ही 'ग्रंथ' में जगह मिली, जिससे उनके हवाले से सिख मत के सिद्धांतों को पुष्टि एवं प्रामाणिकता मिल सके।

'आदिग्रंथ','अकाल परुख' की अवधारणा प्रतिपादित करता है तथा 'सतिनाम सुमिरन' इसकी उपासना के केंद्र में है। ईश्वरीय 'नाम' के सुमिरन का महत्व कबीरदास के यहाँ भी है। 'नाम जप' की महिमा बखानते हुए गुरु अर्जुनदेव कबीर सहित कई अन्य संत आत्माओं का उल्लेख करते हैं, जो नाम-सुमिरन के माध्यम से 'उद्धार' पा गएः

सुणि सखी मन जपि पिआर। उधरिया कहि एक बार।

X X X

कबीर धिआइओ एक रंग। नामदेव हरि जीउ बसहि संग।
रविदास धिआए प्रभ अनूप। गुरु नानक देव गोविंद रूप।।

सिख मत तथा कबीर दोनों ने ब्रह्म के विभिन्न नामों-राम, हरि, गोविंद, निरंजन, अल्लाह, खुदा, रहीम आदि की महत्ता बताई है, जिनके सुमिरन से 'सहज' ही साधना की जा सकती है। जाहिर है कि उपासना-पद्धति के आलोक में कबीर सिख सिद्धांतों के निकट दिखाई देते हैं।

वैचारिक धरातल पर साम्य का दूसरा स्तर जाति, धर्म, सम्प्रदाय के आधार पर मानवता मात्र के विभाजनों को नकारने में है। नानकदेव कहते हैं कि ईश्वर के द्वार पर जाति नहीं पूछी जाती :'जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे' तो कबीर के अनुसार सारे जीवों की उत्पत्ति 'ब्रह्म-बिंदु' से होती है, इसलिए जन्म-कुल अप्रासंगिक है :

गरभ वास महि कुलु नहीं जाती। ब्रह्म बिंदु ते सभ उतपाती।।
कहु रे पंडित बामन कबके हुए। बामन कहि कहि जनमु मत खोए।।
जौ तूं ब्राह्मणु ब्रह्मणी जाइआ। तउ आन बाट काहे नहीं आइआ।।
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद। हम कत लोहू तुम कत दूध।।
कहु कबीर जो ब्रह्ममु बीचारै। सो ब्राह्मणु कहिअतु है हमारै।।

इसी तरह वेद-कुरान के नकार, सतगुरु महिमा, वैयक्तिक रहस्यवाद इत्यादि के संदर्भ में भी विचारगत साम्य को रेखांकित किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि कबीर सरीखे कई अन्य गैर सिख संतों की बानियों के संकलन के बावजूद संकलनकर्त्ता ने 'आदिग्रंथ' की मूल विषय-वस्तु की निरंतरता का निर्वाह करते हुए सैद्धांतिक सामंजस्य बनाए रखने में सफलता पाई है।

'आदिग्रंथ' में सिख गुरुओं ने कबीर आदि गैर-सिख संतों के संदर्भ में जो टिप्पणियाँ की हैं, उनका आधार सिर्फ सहमतियाँ ही नहीं, कुछ मुद्दों पर असहमतियाँ भी हैं। इन सहमतियों-असहमतियों के बीच सिख पंथ स्वयं को परिभाषित करता है। इस प्रकार सम्भवतः आत्म-परिभाषा भी संकलन का एक प्रयोजन है। सिख गुरुओं की कबीर पर टिप्पणियों को तीन रूपों में लक्षित किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि गुरुओं ने कबीर के बारे में इनमें अपनी राय जाहिर की है। दूसरे, इनमें कबीर की बानियों की स्पष्ट और बोधगम्य व्याख्या का सरोकार निहित है तथा तीसरे, इनके जरिए कबीर से उनकी सहमतियों-असहमतियों का पता मिलता है।

कबीर के माध्यम से सिख पंथ की आत्म-परिभाषा की प्रयोजनीयता को गुरु अर्जुनदेव की बानियों के अंतर्गत संकलित इस पद के उदाहरण से समझा जा सकता है –

वरत न रहउ न मह रमदाना। तिसु सेवी जो रखै निदाना।।
एकु गुसाई अलहु मेरा। हिंदू तुरक दुहां नेबेरा।।
हज काबै जाउ न तीरथ पूजा। एको सेवी अवरु न दूजा।।
पूजा करउ न निवाज गुजारउ। एक निरंकार ले रिदै नमसकारउ।।
ना हम हिंदू न मुसलमान। अलह राम के पिंड परान।।
कहु कबीर इहु कीआ बसाना। गुर पीर मिली खुदि खसमु पछाना।।

अन्य स्रोतों में भी कबीर के नाम से मिलने वाले इस पद में आखिरी दो पंक्तियाँ अनुपस्थित हैं। कुछ लोगों का मानना है कि ये दोनों पंक्तियाँ स्वयं अर्जुनदेव द्वारा रचित हैं (इसलिए आदिग्रंथ' में महला 5 के अंतर्गत संकलित हैं) जिनके द्वारा वे हिंदू व इस्लाम से पृथक पंथ के रूप में सिख मत को परिभाषित करते हैं।

कबीर सरीखे संतों के संकलन के पीछे एक अन्य उद्देश्य सम्भवतः सिख मत को व्यापकता, सार्वजनीनता प्रदान करना भी बताया जाता है। इसके माध्यम से संकलनकर्त्ता सिख सिद्धांतों को उन लोगों तक प्रेषित करना चाहते थे, जो किसी भी रूप में कबीर आदि संतों की पहुँच में थे। इसके अतिरिक्त इससे सिख पंथ की सैद्धांतिकी के आविर्भाव की पृष्ठभूमि स्पष्ट करने तथा भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में सिख मत एवं 'आदिग्रंथ ' की अवस्थिति दर्शाने में भी मदद मिली होगी। जो भी हो, इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मध्यकालीन भारतीय समाज में विभिन्न धार्मिक मतांतरों के बीच कठोर विभाजनों का अभाव था तथा विविध मतों के प्रति आग्रह रखने वाले लोगों के बीच संवाद की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं।

5.4 आदिग्रंथ में संकलित कबीर-वाणी : विषय-वस्तु और दर्शन

कबीर-वाणी की अंतर्वस्तु का समग्र अध्ययन आप आगे के खंडों की विविध इकाइयों में करेंगे। यहाँ हमारा मूल सरोकार 'आदिग्रंथ' में संकलित कबीर की रचनाओं से है। निर्गुणवादी वैचारिक विशिष्टताओं को धारण करते हुए भी कबीर की मौलिकता इसमें है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं अनुभूत सत्य के आलोक में अपने सिद्धांतों को दृढ़तापूर्वक अभिव्यक्ति दी है। उनके यहाँ अभिज्ञानात्मक अनुभूति का क्षण अचानक आता है –

कबीर सतिगुर सूरमे बाहिआ बानु जु एकु।
लागत ही भुइ गिरि परिआ परा करेजे छेकु।।

सतगुरु की कृपा हुई, उसने 'शबद-बाण' मारा और साधक का कलेजा बिंध गया। इस अनुभूति के साथ ही सब कुछ बदल गया। जिस पर यह अनुकम्पा नहीं होती, उसका जीवन व्यर्थ चला जाता हैः 'बारह बरस तो बालपन में बीत जाते हैं, बीस-तीस की अवस्था तक न तप होता है, न पूजा। जब वृद्ध हुए तब पछताने के सिवा बचता क्या है? मेरा-मेरा

कहते जीवन गुजर जाता है और अंततः सारी शक्ति चूक जाती है।' यह 'मेरा-मेरा' माया का वशीकरण है, जिसकी 'टाटी' 'ज्ञान की आँधी' से उड़ती है और तब आध्यात्मिक जागरण का क्षण आता है, जो जीव को बंधन मुक्त करता है।

कबीर का ब्रह्म सार्वभौमिक सबके हृदय का वासी है। इसलिए उसकी खोज अंततः अपने भीतर होनी चाहिए, जो शुद्ध अंतःकरण से ही सम्भव है। कबीर ने उसे बार-बार खोजा और पाया है; आत्मानुभूति प्राप्त की है। जब ब्रह्म अंतःवासी है तो उसे बाहर कैसे पा सकते हैं? कबीर इसी कारण हिंदू और इस्लाम दोनों मतों का खंडन करते हैं जो ईश्वर को मंदिर-मस्जिद में देखते हैं। यदि वह मंदिर-मस्जिद में ही रहता है तो शेष जगह किसकी है –

अलहु एकु मसीति बसतु है अवरु मुलखु किसु केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी दुहु महि ततु न हेरा।।

हिंदू-मुस्लिम दोनों ने मूल तत्व को नहीं खोजा। इसलिए कबीर दोनों के बाह्याचारों की निंदा करते हैं। उनके यहाँ न एकादशी का महत्व है न रमजान का, पूर्व का न पश्चिम का, काबा का न काशी का, पंडित का न काजी का, वेद का न कतेब का।

कबीर के अनुसार मानव-मानव के बीच सारे कृत्रिम विभेद निःसार हैं। हरेक प्राणी उसी 'एक' की कृति है, उसी की छवि है। अतः सभी समान हैं। ईश्वर ने सबसे पहले ज्योति उत्पन्न की और सारी प्रकृति उसी से व्युत्पन्न है। जब सारे मनुष्य प्रकृति के ही अंग हैं तो उनमें बड़े-छोटे, अच्छे-बुरे का भेद कैसा –

अवलि अलह नुरू उपाइआ कुदरति के सभ बंदे।
एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे।।

मिट्टी तो एक ही है, पर सिरजनहार ने अनेक प्रकार के रूपाकार देकर सृष्टि की। इसमें न तो मिट्टी के बर्तन का दोष है और न सर्जक का। स्रष्टा का सत्त्व तो सबमें बराबर मौजूद है।

कबीर रहस्यवादी इसलिए भी कहे जाते हैं कि 'दिव्य अनुभूति' के लिए वे एकांतिक साधना के हिमायती हैं। आध्यात्मिक आरोहण की राह वैयक्तिक प्रयत्नों से तय होती है और इसके लिए आवश्यक है एकांतिक स्वतंत्रता। इसकी खोज में कबीर अपने जुलाहा व्यवसाय से भी सम्भवतः विरत हो जाते हैं। आध्यात्मिक मुक्ति की ओर बढ़ने के लिए सांसारिकता से मुक्ति जरूरी है और इसके लिए कबीर के यहाँ मंगतपना भी काम्य है –

कबीर भली मधुकरी नाना बिधि को नाजू।
दावा काहू को नहीं बड़ा देसु बड़ राजू।।

अनेक स्रोतों से ग्रहण किए गए पर किसी का दावा नहीं होता और ग्रहण करने वाला संकीर्णताओं से मुक्त रहता है। जरा गौर करें कि इसके ठीक विपरीत सिख गुरुओं ने भिक्षावृत्ति की कठोर भर्त्सना की है। नानकदेव की वाणी है –

गुरु पीरु सदाए मंगण जाइ। ता कै मूलि न गलिऐ पाइ।
घालि खाइ किछु हथहु देइ। नानक राहु पछाणहि सेइ।।

गुरु-पीर कहलाते हैं और भीख माँगने जाते हैं। ऐसे लोगों का पैर कभी न छुओ। जो लोग खुद कमाकर खाते हैं और दूसरों को भी देते हैं, उन व्यक्तियों के लिए नानक कहते हैं कि उन्होंने आध्यत्मिक जीवन की सही राह पा ली है। ठीक इसी तरह नानकदेव ऐकांतिक आरोहण के बजाए 'सरबत का भला' (सबका भला) पर जोर देते हैं। उनके यहाँ मुक्ति की साधना सामूहिक साधना है।

कबीर की अनुभूतियों के केंद्र में है प्रेम और विरह। अव्यक्त, अप्रस्तुत, अनश्वर की साधना का राजपथ है प्रेम। चूँकि उसे पाने की उत्कंठा तीव्र है इसलिए विरह-वेदना भी असह्य है। जीवात्मा के तड़प की सुंदर अभिव्यंजना कबीर प्रस्तुत करते हैं –

कबीर विरहु भुयंगमु मन बसै मंतु न मानै कोइ।
राम बिओगी ना जीऐ जीऐ त बउरा होइ।।

विरह सर्पिणी कोई मंत्र नहीं मानती। राम का वियोगी कैसे जिए? यदि वह जीता भी है तो बावला बनकर। दिव्य प्रेम की साधना है भी बहुत कठिन। विरले ही इस मार्ग पर चलकर परमप्रिय ब्रह्म का साक्षात्कार पाते हैं।

5.4.1 कबीर और गुरु अमरदास

एक मान्यता के अनुसार अपने आरम्भिक जीवन में गुरु अमरदास वैष्णव थे, इसलिए कबीर की बानियों के प्रति उनका स्वाभाविक लगाव था तथा वैष्णव रूप में ही विभिन्न हिंदू तीर्थ-स्थलों के भ्रमण के दौरान उन्होंने कबीर की वाणियों का संग्रह किया था। 'आदिग्रंथ ' में उन्होंने ही सिख गुरुओं में सर्वप्रथम नामदेव के साथ-साथ कबीर का नामोल्लेख किया तथा अपने 'वारों' के अंतर्गत कबीर की वाणियों पर टिप्पणी की। सिख मत के दृष्टिकोण से की गई इन टिप्पणियों को 'जन्म-मुक्ति', मोक्ष प्राप्ति के उपादान तथा व्यक्तिगत प्रयत्नों के बरक्स ईश-कृपा की अहमियत की अवधारणा के संदर्भ में देखा जा सकता है।

'आदिग्रंथ' में एक पद में 'मेंहदी' के रूपक द्वारा कबीर कहते हैं कि उनकी कठोर तपश्चर्या के बावजूद ब्रह्म की दिव्य कृपा दृष्टि नहीं पड़ी :

कबीर महिदी करिकै घालिआ आपु पिसाइ पिसाइ।
तै सह बात न पूछीआ कबहू न लाई पाइ।।

यह अपनी आध्यात्मिक साधना का प्रतिदान न मिलने की शिकायत है। सिख सिद्धांतों के अनुसार आध्यात्मिक आरोहण हेतु व्यक्तिगत प्रयत्नों से अधिक ईश-कृपा की अनिवार्यता होती है। अतः बिना किसी प्रतिफल की इच्छा किए ब्रह्म के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना होनी चाहिए। कबीर की उपरोक्त पंक्तियों पर अमरदास टिप्पणी करते हैं –

नानक महिदी करि कै राखिआ सो सहु न हरि करेइ।
आपै पीसै आपे घसै आपे ही लाइ लएइ।
वहु पिरम पिआला खसम का जै भावै तै देइ।।

अर्थात अनुग्रह दृष्टि ब्रह्म की स्वेच्छा है जिसकी प्रेरणा से साधक आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करता है।

मुक्ति की आकांक्षा धर्म-दर्शनों का सार है। कबीर का मानना है कि जीवन काल में ही मनुष्य को 'मुक्ति' प्राप्त हो सकती है। 'जीवत मृतक' की साधना अर्थात् जीवित रहते हुए भी संसार के लिए मृतक समान रहने से ही इसे अर्जित किया जा सकता है –

कबीर ऐसा एकु आधु जो जीवत मिरतकु होइ।
निरभै होइ कै गुन रवै जत पेखउ तत सोइ।।

इस 'जीवत मृतक' की अवस्था में ही साधक सहजानुभूति प्राप्त करता है तथा ब्रह्म की 'कसौटी' पर खरा उतरता है –

कबीर कसउटी राम की झूठा टिकै न कोई।
राम कसउटी सो सहै जो मरजीवा होइ।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कोई रहते हुए भी मृतक समान कैसे हो सकता है? इसकी व्याख्या करते हुए अमरदास टिप्पणी करते हैं –

किउकरि इहु मन मारीऐ किउकरि मिरतकु होइ।
कहिआ सबदु न मानई हउमै छडै न कोइ।
गुर परसादी हउमै छुटै जीवन मुकतु सो होइ।
नानक जिसनो बखसे तिसु मिलै तिसु बिघनु न लागै कोइ।।
जीवत मरणा सभु को कहै जीवन मुकति किउ होइ।
भै का संजमु जे करे दारू भाउ लाएइ।
अनदिन गुण गावै सुख सहजे बिखु भवजल नामि तरेइ।
नानक-गुरमुखि पाईऐ जाकउ नदरि करेइ।।

अर्थात ऐसी साधना हेतु जरूरी है अहं (हउमै) का त्याग, जो गुरु कृपा से ही सम्भव है। यहाँ गुरु अमरदास कबीर की दुरूह वाणी की सहज व्याख्या कर कबीर के साथ अपने मंतव्य को ही उद्घाटित करते हैं।

कबीर के अनुसार यह मानव जीवन दुर्लभ है जो बार-बार नहीं मिलता। जो फल पककर जमीन पर गिर जाता है, वह फिर डाल पर नहीं लगता। किंतु जीवन-मरण का चक्र शाश्वत है, जिसमें हर जीवन मृत्यु के पंजे में कैद है। कबीर कहते हैं कि इससे मुक्ति अर्थात् मोक्ष सच्ची 'मृत्यु' द्वारा ही सम्भव है, जिसे कोई नहीं समझता –

कबीर मरता मरता जगु मुआ मरिनि न जानै कोइ।
ऐसी मरनी जो मरै बहुरि न मरना होइ।।

'ऐसी मरनी' की गुत्थी अमरदास सुलझाते हैं –

किआ जाणा किव मरहगे कैसा मरणा होइ।
जेकरि साहिबु मनहि न पीसरै ता सहिला मरणा होइ।
मरणै तै जगतु डरै जीविआ लौडै सभु कोइ।
गुर परसादी जीवतु मरै हुकमै बूझे सोइ।
नानक ऐसी मरनी जो मरै ता सद जीवणु होइ।।

इसके लिए भी गुरु-कृपा की जरूरत है। उसके माध्यम से ही मनुष्य कर्म के ईश्वरीय आदेश 'हुकम' से तारतम्य साध सकता है तथा जीवन-मरण के चक्र से निजात पा सकता है। अनश्वरता मृत्यु भय पर विजय से आ सकती है।

आध्यात्मिक मुक्ति की राह में सबसे बड़ी बाधा यह चंचल मन है। वासनाओं से संचालित इस मन की तुलना कबीर पागल हाथी से करते हैं, जो अनियंत्रित है। सतगुरु की कृपा से मन के भटकाव से स्वतंत्रता मिल सकती है और सहजानुभूति हो सकती है :

कबीर मुकति दुआरा संकुड़ा राई दसवै भाइ।
मनु तनु मैगलु होइ रहा निकसिआ किउकरि जाइ।
ऐसा सतिगुरु जे मिलै तुठा करे पसाउ।
मुकति दुआरा मोकला सहजे आवउ जाउ।।

इसकी व्याख्या करते हुए अमरदास मन की चंचलता का कारण अहं (हउमै) बताते हैं। इससे मुक्ति सतगुरु से मिलन से ही सम्भव है।

कबीर सांसारिक जीवन में सक्रियता से निग्रह के पैरोकार हैं। उनके अनुसार जो होता है ब्रह्म की इच्छा से, मनुष्य के चाहने से नहीं :

कबीर जो मैं चिलवउ ना करै, किआ मेरे चितवे होइ।
अपना चितविआ हरि करै, जो मेरे चित न होइ।।

दूसरी ओर सिख मत सांसारिक जीवन में सक्रियता तथा हर स्थिति में 'दैवी इच्छा' के प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार्य का पक्षपाती है। कबीर के इस सलोक पर टिप्पणी करते हुए गुरु अमरदास कहते हैं :

चिंता भि आपि कराइसी अचिंतु भी आपे देइ।
नानक सो सालाहीऐ जि सभना सार करेइ।।

5.4.2 कबीर और गुरु अर्जुनदेव

'आदिग्रंथ' के संकलनकर्त्ता के रूप में कबीर-वाणी का सिख मत की वैचारिकी एवं प्रयोजनों से संतुलन स्थापित करने का श्रेय गुरु अर्जुनदेव को है। उन्होंने कबीर पर टिप्पणियाँ करने के क्रम में नामछाप भी कबीर का ही अपनाया है। कबीर से उनके मूल सरोकार मृत्यु की अनिवार्यता, संत-असंत संगति, अध्यात्म साधना के एक अंग के रूप में निरंतर श्रम का महत्व तथा मन की चंचलता के ऊपर प्रबुद्ध विचारों की श्रेष्ठता की अवधारणा से जुड़ते हैं।

कबीर के यहाँ नश्वरता का बोध तीव्र है। उनके अनुसार मृत्यु से पहले जीव को अपने विगत कर्मों का लेखा-जोखा संतुलित करना होता है, जिसमें वह असफल रहता है –

कबीर टालै टोलै दिनु गइआ बिआजु बढंतउ जाइ।
ना हरि भाजिओ न खतु फटिओ कालु पहूंचो आइ।।

पुराने ऋण चुकाने का अर्थ है विगत संचित कर्मों को नष्ट करना। कर्मों का आधार मानव की गतिविधियाँ हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार आप वह हैं जो आप करते हैं' अथवा 'आप जो होते हैं, उसे आपके कर्म निर्धारित करते हैं'। कर्म के अंतर्गत मानसिक कर्म भी समाहित हैं। कबीर कहते हैं कि 'बंधनों से मुक्ति' सम्बंधी कर्मों को मनुष्य टालता जाता है और उस पर मंदे कर्मों का बोझ बढ़ता जाता है, जो मृत्यु के बाद मोक्ष में बाधक बन जाता है।

कबीर की व्याख्या करते हुए अर्जुनदेव कहते हैं –

कबीर कुकरु भउकना करंग पिछै उठि धाइ।
करमी सतिगुरु पाइआ जिनि हउ लीआ छडाइ।।

अर्थात कर्म-बंधन से मुक्ति सतगुरु की कृपा से ही सम्भव है।

उचित धार्मिक आचरण के लिए संत स्वभाव के लोगों की संगति पर कबीरदास बार-बार बल देते हैं –

कबीर संत की गैल न छोडीऐ मारगि लागा जाउ।
पेखत ही पुंनीत होइ भेटत जपीऐ नाउ।।

यह सिख पंथ की 'साध संगत' के अनुरूप है। गुरु अर्जुनदेव के अनुसार –

साध कै संगि मुख ऊजल होत। साध संगि भवु सगलि खोत।

X X X

साध की महिमा बरनै कउनु प्रानी। नानक साध की सोभा प्रभ माहि समानी ।।

दूसरी ओर कबीर असंत वृत्ति के लोगों से किसी भी प्रकार के सम्पर्क के सख्त खिलाफ हैं, जिन्हें वे मांसाहारी, मद्यप कहते हैं। ऐसे लोग सर्वथा विनष्ट हो चुके हैं और उनके लिए मुक्ति का मार्ग बंद हो चुका है –

कबीर साकत संगु न कीजिऐ दूरहि जाईऐ भागि।
बासनु कारो परसीऐ तउ कछु लागै दागु।।

वहीं एक धर्म पंथ के विचारों के अनुरूप इस संदर्भ में अर्जुनदेव के विचार हैं –

कबीर धरती साध की तसकर बैसहि गाहि।
धरती भार न बिआपई उन कउ लाहू लाहि।।

संत जन चूँकि हर वस्तु को समभाव से देखते हैं, इसलिए अर्जुनदेव के विचार में पापी की संगति का प्रभाव संत जन पर नहीं पड़ता, उलटे असंतों को इसका लाभ ही मिलता है। फिर कुसंगति से दूर रहने की सलाह भी वे देते हैं।

अध्यात्म साधना के एक अंग के रूप में दैनिक श्रम की महत्ता के संदर्भ में अर्जुनदेव कबीर से मतांतर रखते हैं। कबीर की बानियों से ऐसा प्रतीत होता है कि एकांतिक साधना हेतु वे मंगतपने को भी काम्य मानते हैं तथा आध्यात्मिक राह में बाधा समझकर अपने जुलाहा व्यवसाय से भी विरत हो जाते हैं। कबीर के सलोकों के बीच अर्जुनदेव सचेत रूप से नामदेव और त्रिलोचन का एक संक्षिप्त संवाद प्रस्तुत करते हैं –

नामा माइआ मोहिआ कहै तिलोचनु मीत।
काहे छीपहु छाइलै राम न लावहु चीतु।।
नामा कहै तिलोचना मुख ते रामु संम्हालि।
हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरंजना नालि।।

इस संवाद के माध्यम से अर्जुनदेव ने अपनी श्रम सम्बंधी मान्यता की पुष्टि की है। उनके अनुसार दैनिक श्रम आध्यात्मिक साधना में साधन है, बाधा नहीं।

'आदिग्रंथ' में कबीर के संदर्भ में एक अनूठा दृष्टांत उपस्थित है, जो विभिन्न संत कवियों में कबीर को अद्वितीयता प्रदान करता है । राग गउड़ी के अंतर्गत संकलित कबीरदास के एक पद का शीर्षक है - 'गउड़ी कबीर जी की नालि रलाई लिखिआ महला 5'। सम्भवतः इसका अर्थ है - 'गउड़ी राग में कबीर का पद जिसमें संकलन के दौरान गुरु अर्जुनदेव की रचना जोड़ी गई'। पद इस प्रकार है –

ऐसो अचरजु देखिओ कबीर। दधि कै भोलै बिरोलै नीरू।।
हरी अंगूरी गदहा चरै। नित उठि हासै हीगै मरै।।
माता भैसा अंमुहा जाइ। कुदि कुदि चरै रसातलि पाइ।।
कहु कबीर परगटु भई खेड। लेले कउ चूघै नित भेड।।
राम रमत मति परगटी आई। कहु कबीर गुरि सोझी पाई।।

यह कबीर की एक उलटबाँसी है और सम्भवतः इसकी अंतिम पंक्ति इसे बोधगम्य बनाने के लिए गुरु अर्जुनदेव ने जोड़ी है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि 'आदि ग्रंथ' में 'भगत कबीर की बानी' के चयन और संकलन के विविध परिप्रेक्ष्य हैं।

5.5 सारांश

सिख धर्मग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहिब' में निर्गुण संतों – कबीरदास, रैदास, पीपा, धन्ना, आदि के साथ सगुण भक्तों – रामानंद (एक पद), सूरदास (एक पंक्ति), मीराबाई (एक पद) सूफी शेख फरीद, भीखन सरीखे सिख परम्परा के बाहर के संत कवियों को भी संकलित किया गया है। किंतु इन सभी में कबीरदास का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि 'ग्रंथ' में सिख गुरुओं के प्रायः बाद कबीर-वाणी को जगह मिली है तथा गैर सिख संतों में सर्वाधिक संकलित रचनाएँ भी कबीर की ही हैं। 'आदि ग्रंथ' कबीर-वाणी का इतना व्यापक संकलन प्रस्तुत करने वाला एकमात्र प्राचीनतम ज्ञात स्रोत है, अतएव इसका पाठ भी अपेक्षाकृत प्रामाणिक ठहरता है। इसके अलावा इसमें संकलित विभिन्न संतों की टिप्पणियों तथा कबीर की स्वयं की कविताई के अंतःसाक्ष्यों से कबीर सम्बंधी ऐतिहासिक तथ्यों पर भी

प्रकाश पड़ता है। फिर भी विभिन्न स्रोतों से तुलना करने पर यह प्रकट होता है कि 'आदिग्रंथ' में कबीर की समस्त रचनाओं को जगह नहीं मिली है। तब अवश्य ही संकलन में चयन की विविध दृष्टियाँ कार्यरत रहीं तथा 'ग्रंथ' में कबीर-वाणी के संकलन के कुछ निहितार्थ भी रहे हैं। सिख गुरुओं-अमरदास तथा अर्जुनदेव की टिप्पणियों से कबीर से उनके मतैक्य एवं मतांतर उजागर होते हैं, जिनमें कुछ विद्वानों के अनुसार, सिख-पंथ की 'आत्म परिभाषा' के प्रयोजन भी निहित हैं। बहरहाल, 'आदिग्रंथ' में कबीर अपने परिचित 'अक्खड़' व्यक्तित्व, निर्गुणवादी सिद्धांतों के साथ उपस्थित होते हैं, जिनमें अपनी अभिज्ञानात्मक अनुभूति के उद्घाटन, सतगुरु महिमा की प्रतिष्ठा, ज्ञान द्वारा माया से मुक्ति, द्वैत एवं अद्वैत से विलक्षण ब्रह्म की अवधारणा का प्रतिपादन और मानव जनित समस्त विषमताओं, जाति-सम्प्रदाय आधारित विभेदों, बाह्याचारों आदि के खंडन की चेतना तथा प्रेमाधारित समरस समाज के निर्माण की बैचैनी है। फिर 'जन्म मृत्यु' का प्रश्न, मृत्यु की अनिवार्यता, मोक्ष के उपादान, वैयक्तिक प्रयत्नों के बरक्स ईश-कृपा का महत्व, आध्यात्मिक राह में दैनिक श्रम की अहमियत, चंचल मन पर प्रबुद्ध विचारों का नियंत्रण जैसे प्रसंगों के संदर्भ में सिख मत तथा कबीर की वैचारिकी के बीच सहमतियों-असहमतियों को भी देखा जा सकता है। इस प्रकार 'आदिग्रंथ' में कबीर-वाणी के संकलन के विविध आयामों पर अध्ययन की अनेक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

5.6 अभ्यास प्रश्न

1. 'गुरुग्रंथ साहिब' और 'आदिग्रंथ' का अंतर स्पष्ट करते हुए एक परिचयात्मक निबंध लिखिए।
2. 'गुरु ग्रंथ साहिब' के संकलन की प्रेरक पृष्ठभूमि, विभिन्न परम्पराओं तथा विशिष्ट लक्षणों को रेखांकित करते हुए इसमें संकलित मुख्य गैर सिख संत कवियों के बारे में बताइए।
3. आदिग्रंथ में कबीर के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. कबीर के अध्ययन में 'आदिग्रंथ' का क्या महत्व है? सतर्क उत्तर दीजिए।
5. आपकी दृष्टि में 'आदिग्रंथ' में कबीर-वाणी के संकलन के क्या निहितार्थ सम्भव हैं? तर्कसम्मत विचार प्रस्तुत कीजिए।
6. 'आदिग्रंथ' के हवाले से कबीर की कविताई के विविध पक्षों की विवेचना कीजिए।
7. 'आदिग्रंथ' के संदर्भ में सिख मत एवं कबीर की वैचारिकी में मतैक्य एवं मतांतर को रेखांकित करते हुए एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

5.7 खंड से सम्बंधित उपयोगी पुस्तकें

श्याम सुंदर दास : सं. कबीर ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा

डॉ. माताप्रसाद गुप्त : सं. कबीर ग्रंथावली, साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड - इलाहाबाद

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, राजकमल प्रकाशन - नई दिल्ली संस्करण - सन् 1985

पं. परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, भारती भंडार - प्रयाग, संस्करण-सं. 2011 (सन् 1954)

डॉ. केदारनाथ द्विवेदी : कबीर और कबीर पंथ, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

डॉ. पारसनाथ तिवारी : कबीर वाणी - सुधा, राका प्रकाशन - इलाहाबाद

डॉ. रामचंद्र तिवारी : कबीर मीमांसा, लोक भारती प्रकाशन - इलाहाबाद

डॉ. धर्मवीर : कबीर के आलोचक, वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिंदी काव्य की निर्गुण धारा : अनु. एवं सं. परशुराम चतुर्वेदी, भगीरथ मिश्र, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली

डॉ. राजदेव सिंह, संत साहित्य की भूमिका : लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

श्री के. दामोदरन, भारतीय चिंताधारा : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य की भूमिका : हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, हीरा बाग, गिरि गाँव मुम्बई-4

डॉ. प्रेमशंकर, भक्ति काव्य का समाजशास्त्र : राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

डॉ. रमेश कुंतल मेघ, तुलसी : आधुनिक वातायन से : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-110006

डॉ. शिवकुमार मिश्र, भक्ति काव्य और लोकजीवन : पीपुल्स लिटरेसी, 317, मटिया महल, दिल्ली-110006